गोस्वामी तुलसीदासजी

के

दार्शनिक विचार

(नागरीप्रचारिणी पत्रिका भाग ४ संख्या ३ से उद्धृत)

कोई गु
है न कर.

लेखक—

राय कृष्णजी

२०४

(१३) गो० तुलसीदास जी के दार्शनिक विचार

[लेखक—राय कृष्ण जी, काशी]

गोस्वामी तुलसीदास जी की त्रिशत वार्षिक जयंती के अवसर पर काशी नागरीप्रचारणी सभा ने तुलसी-ग्रंथावली प्रकाशित की है। उसके पहले खंड में राम-चरित-मानस, दूसरे में विनय-पत्रिका इत्यादि तुलसी-कृत ग्रंथ और तीसरे में निबंधावली है। इस तीसरे खंड की निबंधावली में पं० गिरधर शर्मा चतुर्वेदी का 'गोस्वामी जी के दार्शनिक विचार' नाम का एक लेख है। उसके आरंभ में चतुर्वेदी जी ने लिखा है—"यह लेख किसी सांप्रदायिक पक्षपात के वश होकर नहीं लिखा जाता"। यों तो इस तरह के बहुतेरे लेख प्रकाशित हुआ करते हैं, परंतु चतुर्वेदी जी ऐसे प्रसिद्ध विद्वान् का ऐसा लिखने और सभा ऐसी प्रतिष्ठित संस्था का ऐसे अवसर पर उसे इस प्रकार प्रकाशित करने से यदि लोग इसकी प्रामाणिकता के विषय में विश्वस्त हों तो कोई आश्चर्य नहीं। अतएव मैंने इसे चाव से पढ़ना प्रारंभ किया। परंतु बड़े दुःख से कहना पड़ता है कि उसे पढ़ने पर मेरी यह धारणा जाती रही।

चतुर्वेदी जी का कथन है—"यही निश्चय करना पड़ता है कि दार्शनिक सिद्धांतों में श्री गोस्वामी जी श्री शंकराचार्य के अद्वैतवाद के अनुगामी हैं।" यहाँ शांकरवाद के मोटे मोटे तत्त्व बहुत संक्षेप में कह देना अनुचित न होगा। अद्वैत उस सिद्धांत को कहते हैं जिसमें ईश्वर और जीव को परमार्थतः एक मानते हैं। इसकी शांकरवाद के अतिरिक्त कई शाखाएँ हैं, जैसे विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत इत्यादि। शांकरवाद का यह सिद्धांत है कि परब्रह्म में अच्छे बुरे कोई गुण नहीं हैं; वह सत्य है; वह सर्वव्याप्त है; वह न कुछ करता है न कराता है; वह स्वयं ज्ञान-स्वरूप है, ज्ञान का विषय नहीं है;

सारा जगत—जो कुछ इंद्रिय, मन या बुद्धि-गोचर है—सब मिथ्या है, जीवात्मा परमात्मा ही है, परंतु माया और अविद्या के कारण आत्मा अपने को परमात्मा से भिन्न समझता है। जिस तरह रस्सी देखकर कभी कभी सर्प का भ्रम हो जाता है या कुछ अँधेरे में जंगल में लकड़ी का कुंदा खड़ा देखकर आदमी का भ्रम हो जाता है, पर वास्तव में वे सर्प या आदमी नहीं रहते, उसी तरह सृष्टि भी मनुष्य का भ्रम मात्र ही है, वास्तव में मिथ्या है, है ही नहीं। जब मनुष्य को यह ज्ञान हो जाता है, जब वह सृष्टि को मिथ्या और अपनी आत्मा को परमात्मा—सोऽहमस्मि—जान लेता है, तब वह जीव भी अव्यक्त, अचिंत्य, निर्गुण ब्रह्म है। जितने जप, तप, दान, क्रिया, कर्म, भक्ति इत्यादि साधन हैं, उन सब का अभिप्राय, उन सब का एक मात्र हेतु, ज्ञान होता है। ज्ञान हो जाने पर कोई कर्म करना शेष नहीं रह जाता; क्योंकि सब साधनों का अंतिम फल ज्ञान ही है। केवल अज्ञान—माया और अविद्या के आवरण—ही के कारण जीव अपने को परमात्मा से भिन्न समझकर सांसारिक शोक-मोह इत्यादि में फँसता है। जहाँ उसका अज्ञान नष्ट हुआ, वह अविद्या और माया से मुक्त हुआ, कि उसने अपने आत्मा का वास्तविक रूप जाना। जहाँ उसमें इस अभेद का ज्ञान हो गया, तहाँ वह परमात्मा है।

चतुर्वेदी जी ने अपने लेख में रामायण के अंशों का प्रमाण दिया है। मैंने भी प्रायः उन्हीं अंशों को उद्धृत किया है। जो पाठक स्वयं तत्त्व-निरूपण करना चाहें, उनके सुभीते के लिये हर एक प्रमाण के नीचे पूर्वोक्त सभा द्वारा प्रकाशित राम-चरित-मानस की पृष्ठ-संख्या दी जाती है। संभव है कि रामायण की सब प्रतियों में यह शुद्ध हो, इससे इसीका आधार लिया गया है। यहाँ यह कहना कदाचित् अनुचित न होगा कि रामायण ऐसे महाकाव्य से एक पंक्ति यहाँ से और एक वहाँ से लेकर सभी मत सिद्ध किए जा सकते हैं। परंतु गोस्वामी जी के विचारों का प्रामाणिक तत्त्व-निरूपण करने के लिये व्यापक दृष्टि से, अनेक स्थलों पर कहे हुए वाक्यों की

परस्पर संगति का विचार किए बिना कोई परिणाम निकालना उचित न होगा।

पहला प्रमाण मंगलाचरण से देकर:—

"यन्मायावशवर्त्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा·
यत्सत्त्वादमृषेव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः।
यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्॥"

लेखक महाशय सिद्ध करते हैं कि "इस श्लोक में स्पष्ट ही श्री शंकराचार्य का अद्वैतवाद, न केवल अद्वैतवाद ही किंतु मायावाद भी, उल्लिखित हुआ है।" और कुछ आगे लिखते हैं—"शांकर दर्शन में भी ब्रह्मा, विष्णु, शिव, ये मायाविशिष्ट चैतन्य की उपाधि भेद भिन्न भिन्न संज्ञाएँ स्वीकार की गई हैं और विशिष्ट सब शुद्ध चैतन्य पर ही अधिष्ठित हैं।" आप स्वयं पहले लिख आए हैं—"यह प्रसिद्ध बात है कि रामभक्त गोस्वामी जी अनन्य वैष्णव थे।" ऐसी हालत में जब इसका भक्ति-मार्ग के अनुसार सीधा सीधा अर्थ लग सकता है तब हमें कोई कारण नहीं दीखता कि उसमें ऊपर से और अर्थों का आरोप क्यों किया जाय। गोस्वामी जी को पहले शांकरवाद का अनुगामी बनाकर फिर यह कहना कि, अपने इष्ट को शुद्ध चैतन्य की उपाधि समझने पर भी वे इस मिथ्या उपाधि मात्र के अनन्य भक्त थे, धर्म के कुछ विरुद्ध ही जान पड़ता है। इसके अतिरिक्त गोस्वामी जी ने आगे स्पष्ट शब्दों में कहा है कि श्री रामचंद्र मायाविशिष्ट नहीं किंतु शुद्ध चैतन्य हैं। यहाँ भी इस श्लोक के पूर्व गोस्वामी जी ने

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोहं रामवल्लभाम्॥ (पृ० २)

लिखा है। इसका अर्थ है—उत्पत्ति, रक्षा और संहार करनेवाली, क्लेश हरनेवाली, संपूर्ण मंगल करनेवाली राम की प्रिया को मैं नमस्कार करता हूँ। यह स्पष्ट त्रिगुणात्मक प्रकृति का वर्णन है, न कि माया का। चतुर्वेदी जी ने सब जगह यह अर्थ लगाया है; मानो

गोस्वामी जी को राम और सीता से अद्वैत कथित ब्रह्म और माया अभिप्रेत हैं। क्या यथार्थ दृष्टि से शांकरवाद में, ब्रह्म और माया में प्रिय-प्रिया का संबंध है? अगर नहीं है—मैं यही समझता हूँ कि नहीं है; वहाँ तो 'नेदं यदिदं उपासते' है और प्रीति होने से उपास्य-उपासक भाव होता है—तो यह शांकरवाद कैसे रहा?

अपने संकल्प को पुष्ट करने के लिये लेखक महाशय कहते हैं कि "और स्थानों में भी जहाँ प्रसंग आया है, श्री गोस्वामी जी ने मायावाद का स्फुट उल्लेख किया है। जैसा कि सुंदरकांड में हनुमान की उक्ति है:—

"सुनु रावण ब्रह्मांडनिकाया। पाइ जासु बल बिरचित माया।
जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा।"

पहले तो यह 'माया' नहीं किंतु प्रकृति का वर्णन है जो 'ब्रह्मांड निकाया' के बल से नाना प्रकार की रचना करती है और उसी बल से सृष्टि पैदा होती है, पाली जाती है और नष्ट होती है। दूसरे अधूरी उक्ति न लेकर समूची पर ध्यान देने से यह साफ़ हो जाता है कि यह गोस्वामी जी का मायावाद है या चतुर्वेदी जी का। इसके आगे हनुमान जी का वाक्य है:—

जा बल सीस धरत सहसानन। अंडकोस समेत गिरि कानन।
धरे जो बिबिध देह सुरत्राता। तुम्ह से सठन्ह सिखावनदाता।
हरकोदंड कठिन जेहि भंजा। तोहि समेत नृप-दल-मद गंजा।
खर दूषन त्रिसिरा अरु बाली। बधे सकल अतुलित-बल-साली।

जा के बल-लवलेस तें जितेहु चराचर झारि।
तासु दूत मैं जा करि हरि आनेहु प्रिय नारि॥ (पृ० ३५१)

यहाँ न 'माया' की सत्ता का अस्वीकार, न जगत की मिथ्यता लक्षित होती है।

अब चतुर्वेदी जी 'जड़ चेतन' इत्यादि दोहा और 'सीय-राममय' चौपाई का प्रमाण देते हैं। इन दोनों के बीच का एक दोहा और एक चौपाई छूट गई है। मैं इन्हें पूरा करके लिखता हूँ:—

"जड़ चेतन जगजीवजत, सकल राममय जानि।
बंदौं सब के पद-कमल, सदा जोरि जुग पानि॥"
देव दनुज नर नाग खग प्रेत पितर गंधर्ब।
बंदौं किन्नर रजनिचर कृपा करहु अब सर्ब॥
आकर चारि लाख चौरासी। जाति जीव जल-थल-नभ-बासी।
"सीय-राम-मय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग-पानी॥"
(पृ० ६-७)

इस पर चतुर्वेदी जी की राय है कि "राममय जगत् देखना, राम के अतिरिक्त और कोई वस्तु ही न मानना अद्वैतवाद ही की पराकाष्ठा है।" पहले तो राममय का अर्थ राम से उत्पन्न अथवा राम-प्रधान है, न कि रामात्मक; दूसरे गोस्वामी जी ने चौपाई में 'राममय' मात्र न कह कर 'सीय राममय' कहा है; तीसरे इस प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि गोस्वामी जी सब चराचर सृष्टि को सत्य मानते थे—केवल सत्य ही नहीं बल्कि राममय समझने के कारण वंदनीय भी मानते थे। यह भक्ति-मार्ग की काष्ठा भले ही हो, परंतु यह अद्वैतवाद की पराकाष्ठा नहीं जान पड़ती।

इसके आगे रामकथा की श्रेष्ठता और अपनी दीनता प्रकट करने के लिये गोस्वामी जी ने जो कुछ कहा है, उसमें से लेखक महाशय यह पंक्तियाँ लेकर :—

सारद सेष महेस बिधि, आगम निगम पुरान।
नेति नेति कहि जासु गुन, करहिं निरंतर गान॥
सब जानत प्रभु-प्रभुता सोई। तदपि कहे बिनु रहा न कोई॥
तहाँ बेद अस कारन राखा। भजन-प्रभाउ भाँति बहु भाखा॥
एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा॥
ब्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना॥
सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपालु प्रनत-अनुरागी॥"

'नेति नेति', 'एक', 'अनीह', 'अरूप', 'अनामा', 'अज' और 'सच्चिदानंद' शब्दों की अद्वैतवाद के अनुसार व्याख्या कर

यह नतीजा निकालते हैं—"बस, इस प्रकरण का भी तात्पर्य शंकर मत से स्पष्ट मिल रहा है"। पर गोस्वामी जी के 'तात्पर्य' से और इससे अंतर है। उन्होंने कुछ पहले कहा है—

कहँ रघुपति के चरित अपारा। कहँ मति मोर निरत संसारा॥

(पृ० ९)

और कुछ आगे कहा है :—

मुनिन्ह प्रथम हरिकीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहिं भाई॥

(पृ० १०)

जिससे स्पष्ट होता है कि गोस्वामी जी राम-चरित्र को अनंत—अपार समझते थे, इसी लिये उन चरित्रों के पूरे कथन में वेद को भी अंत में "नेति नेति" पुकारने से, असमर्थ समझते थे, तब भी उन्हें हरि-कीर्ति के गान ही का मार्ग भाता था। ऐसा अर्थ करने से 'नेति नेति' इत्यादि शब्दों का अर्थ 'परधामा', 'व्यापक', 'विश्व-रूप' इत्यादि के अर्थ के साथ सुसंगत भी हो जाता है।

इसके बाद चतुर्वेदी जी

"गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
बंदौं सीताराम–पद जिनहिं परम प्रिय खिन्न"॥

का यह अर्थ लगाते हैं कि सीता और राम माया और ब्रह्म के परस्पर शब्द हैं और इस पर व्याख्या करके यह सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं कि "गोस्वामी जी ने भी ब्रह्म और माया का 'जल-बीचि' की तरह सम्बन्ध मानकर और भेदाभेद के द्वारा अनिर्वच-नीयता मानकर इस सिद्धान्त का स्वीकार किया। सो श्री गोस्वामी जी का यह दोहा स्पष्ट ही शंकर वेदान्त का अनुयायी है, इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता।" यहाँ गोस्वामी जी ने इस भेदाभेद को मिथ्या नहीं कहा है। मिथ्या न मानने से यह भेदाभेद अनिर्वचनीयतावाद न सिद्ध कर द्वैताद्वैत निंबार्क मत सिद्ध करता है। इस दोहे के आगे-पीछे की नीचे लिखी चौपाइयों से भी यही अर्थ सिद्ध होता है :—

जनक-सुता जगजननि जानकी। अतिसय प्रिय करुनानिधान की॥
ताके जुग-पद-कमल मनावौं। जासु कृपा निर्मल मति पावौं॥
पुनि मन बचन कर्म रघुनायक। चरन कमल बंदौं सब लायक॥
राजिवनयन धरे धनुसायक। भगत-बिपति-भंजन सुखदायक॥

"गिरा अरथ जल-बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
बंदौं सीतारामपद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न॥"

बंदौं रामनाम रघुबर को। हेतु कृसानु भानु हिमकर को॥
बिधि-हरि-हर-मय बेदप्रान सो। अगुन अनूपम गुननिधान सो॥

(पृ० १३)

इसके अनंतर लेखक महाशय
"नाम रूप दुइ ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी"॥
का प्रमाण देकर सिद्ध करते हैं कि "यहाँ नाम और रूप को ईश्वर की उपाधि बताया है . . . . सो यह उपाधिवाद शंकर मत का एक ख़ास सारभूत वाद है, जिसे यहाँ गोस्वामी जी ने स्वीकार किया है। अतः श्री गोस्वामी जी का शंकर-मतानुयायी होना स्पष्ट सिद्ध हो जाता है।" पहले तो उपाधिवाद सब दर्शनों में माना है। अद्वैत और अन्य दर्शनों में भेद यह है कि अद्वैत में इसे मिथ्या और अन्य दर्शनों में इसे सत्य मानते हैं। इसलिये केवल उपाधि से शांकरवाद सिद्ध नहीं होता। दूसरे गोस्वामी जी के मत से निर्गुण या सगुण ब्रह्म में एक को दूसरे से छोटा या बड़ा कहना तो अपराध है, परंतु 'साधू' गुण-भेद समझ कर आप ही देखेंगे कि 'रूप-ज्ञान' (अर्थात् ज्ञान-स्वरूप निर्गुण शुद्ध ब्रह्म) नाम-विहीन नहीं हो सकता। क्या इसका यह अभिप्राय है कि गोस्वामी जी ने शांकर-उपाधिवाद स्वीकार किया? हमें तो इस अर्थ का स्वीकार करने में अड़चन जान पड़ती है। गोस्वामी जी का कथन है:—

समुझत सरिस नाम अरु नामी। प्रीति परसपर प्रभु अनुगामी॥
"नाम रूप दुइ ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी॥"

को बड़ छोट कहत अपराधू। सुनि गुन भेदु समुझिहहिं साधू॥
देखिअहिं रूप नाम आधीना। रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना॥
रूप बिसेष नाम बिनु जाने। करतलगत न परहिं पहिचाने॥
सुमिरिअ नामु रूप बिनु देखे। आवत हृदय सनेह बिसेखे॥
नाम-रूप गति अकथ कहानी। समुझत सुखद न परति बखानी।
अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाखी।

राम-नाम-मनि-दीप धरु जीह देहरीद्वार।
तुलसी भीतर बाहरहुँ जौ चाहसि उँजियार॥ (पृ० १४)

इसके पढ़ने पर भी कुछ भ्रम बना रह गया हो तो आगे चलकर बिल्कुल जाता रहेगा; क्योंकि अद्वैत कथित 'उपाधिवाद को स्वीकार' करना तो दूर रहा, गोस्वामी जी ने इसका विरोध किया है।

इसके बाद चतुर्वेदी जी

"अगुन सगुन दोउ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा॥
मोरे मत बड़ नाम दुहूँ ते। किये जेहि जुग बस निज बूते॥
एकि दारुगत देखिअ एकू। पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू॥
उभय अगम जुग सुगम नाम तें। कहेउँ नामु बड़ ब्रह्म राम तें॥"

लिख कर सिद्ध करते हैं कि "यहाँ सगुण निर्गुण का निरूपण है। और यह निरूपण शंकर सिद्धांत में ही सुसंगत होता है; क्योंकि दूसरे मतों में ब्रह्म का निर्गुण रूप नहीं माना जाता।" परंतु गोस्वामी जी का पूरा वाक्य देखने से उनके विचार कुछ और मालूम पड़ते हैं। इन चौपाइयों के पहले का दोहा यह है—

'सकल-कामना-हीन जे राम-भगति-रस-लीन।
नाम सुपेन-पियूष-ह्रद तिन्हहुँ किये मन मीन॥ (पृ० १४)

'मोरे मत बड़ नाम दुहूँते' और 'एक दारुगत' इत्यादि के बीच में यह चौपाई है:—

प्रौढ़ि सुजन जनि जानहिं जन की। कहउँ प्रतीति प्रीति रुचि मन की॥
(पृ० १४)

और 'उभय अगम' इत्यादि के आगे गोस्वामी जी कहते हैं:—

व्यापकु एक ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँदरासी।
अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी।
नामनिरूपन नामजतन तें। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें।

निरगुन तें एहि भाँति बड़ नाम प्रभाउ अपार।
कहउँ नामु बड़ राम तें निज बिचार-अनुसार॥ (पृ० १५)

इसके अतिरिक्त इस उद्धृत भाग के पहले की चौपाइयों में कहा है कि जो ब्रह्म-सुख का अनुभव करना चाहते हैं, वे भी नाम और रूप न मानने पर भी, नाम का जप करने ही से उस सुख को जान सकते हैं:—

ब्रह्म सुखहि अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा।
जाना चहहिं गूढ़गति जेऊ। नाम जीह जपि जानहिं तेऊ।
(पृ० १४)

"एकि दारुगत देखिअ एकू। पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू।" के संबंध में लेखक महाशय ने लिखा है—"विज्ञान-विहीन सत्रहवीं शताब्दी के गोस्वामी जी की यह उक्ति कितनी आश्चर्यकर है, इस पर नई रोशनी से चुँधियाए बाबू सज्जन विचार करें।" गोस्वामी जी के लिये यह कोई नई उक्ति नहीं थी। यह दृष्टांत वल्लभ संप्रदाय का है और इससे तो यही सिद्ध होता है कि यहाँ शुद्धाद्वैत का निरूपण है। आपने कई जगह ज़ोर दिया है कि 'निर्गुण' जैसे या और अमुक शब्द शांकरवाद मात्र में प्रयुक्त होते हैं। इससे जहाँ वैसे शब्द आ गए हैं, वहाँ गोस्वामी जी ने अपने शांकरवाद के अनुगामी होने का प्रमाण दिया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि किसी शब्द मात्र के प्रयोग से दार्शनिक विचार नहीं सिद्ध होते। इसके अतिरिक्त ऐसे शब्दों का प्रयोग सभी मतों में होता है; केवल उनके अर्थ में भेद होता है। एक ही शब्द का एक मत में एक और दूसरे में दूसरा अर्थ मानते हैं; अतः शब्दों के प्रयोग मात्र से यह नहीं सिद्ध होता कि गोस्वामी जी शांकरमतानुयायी थे।

अब लेखक महाशय

"ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद ॥"
विष्णु जो सुरहित नरतनु-धारी। सोउ सर्वग्य जथा त्रिपुरारी ॥
खोजत सो कि अग्य इव नारी। ग्यानधाम श्रीपति असुरारी ॥"

का प्रमाण देकर यह तो कहते हैं कि "यह बाल कांड में सती-मोह का प्रकरण है," परंतु कथा कुछ विस्तार से कहने पर भी आप यों चले हैं कि "इसी प्रसंग में ब्रह्म का वर्णन किया जाता है", और इसके शब्दार्थ समझाकर कुछ तर्क के बाद यह निश्चय करते हैं कि "इन सब प्रकरणों पर दृष्टिपात करने से गोस्वामी तुलसीदास जी के शंकर-मतानुयायी होने में कोई संदेह नहीं रहता। यह भी यहाँ स्पष्ट हो गया कि गोस्वामी जी विष्णु, शंकर आदि को सृष्टि-पालन आदि के लिये ब्रह्म के सोपाधिक रूप एवं परस्पर समान मानते थे और शुद्ध ब्रह्म को इन सब से परे मानते थे"। इस प्रसंग पर 'दृष्टिपात करने से' यह जान पड़ता है कि वास्तव में यह ब्रह्म का वर्णन नहीं है, किंतु सती के बुद्धि-भ्रम का वर्णन है। गोस्वामीजी

सती सो दसा संभु कै देखी। उर उपजा संदेहु बिसेखी।
संकर जगतबंद्य जगदीसा। सुर नर मुनि सब नावत सीसा।
तिन्ह नृपसुतहिं कीन्ह परनामा। कहि सच्चिदानंद परधामा।
भये मगन छबि तासु बिलोकी। अजहुँ प्रीति उर रहति न रोकी।

लिखकर चतुर्वेदी जी के प्रमाणवाले दोहे आदि के अनंतर फिर लिखते हैं:—

संभुगिरा पुनि मृषा न होई। सिव सर्वग्य जानु सब कोई।
अस संसय मन भयेउ अपारा। होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा।

(पृ० २७)

जैसा कि हम पहले कह आए हैं, उपाधिवाद तो सभी मतों में मानते हैं। देखना यह है कि अद्वैत मत के अनुसार गोस्वामी जी सोपाधि रूप को मिथ्या मानते हैं या नहीं। यदि वह मिथ्या नहीं

मानते, तब इस वाक्य से 'ब्रह्म का वर्णन' मान कर भी अद्वैतवाद की पुष्टि नहीं होती। यहाँ ब्रह्म का वर्णन यों है:—

जासु कथा कुंभज रिषि गाई। भगति जासु मैं मुनिहिं सुनाई।
सोइ मम इष्ट-देव रघुबीरा। सेवत जाहि सदा मुनि धीरा।
मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं।
कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं॥
सोइ रामु ब्यापक ब्रह्म भुवन-निकाय-पति मायाधनी।
अवतरेउ अपने भगत-हित निज-तंत्र नित रघु-कुल-मनी॥

(पृ० २७)

यह वाक्य शांकरवाद के अनुकूल नहीं दिखाई देता। कुंभज ऋषि के कथा-गान, उनकी भक्ति, इष्ट-देव, मुनियों के सेव्य, ध्येय, व्यापक, 'भुवन-निकाय पति मायाधनी' होने से यह सगुण ब्रह्म का निरूपण है जिसकी कीर्ति को 'नेति नेति' कहने पर भी वेद, पुराण आदि गाते चले आए हैं। इससे गोस्वामी जी का शांकर-मतानुयायी होना सिद्ध नहीं होता।

आगे चलकर चतुर्वेदी जी

"आगे शिव पार्वती के विवाह-वर्णन के अनंतर श्री पार्वती ने पुनः शंकर से राम-कथा के संबंध में प्रश्न किया, और शंकर भगवान् श्रीराम का स्मरण कर कथा आरंभ करने लगे। ...... उसमें अति स्पष्ट शंकर सिद्धांत का मायावाद विराजमान है। देखिए—

झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने।
जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा सपन-भ्रम जाई॥
बंदौं बालरूप सोइ रामू। सब बिधि सुलभ जपत जिसु नामू।
मंगल-भवन अमंगल-हारी। द्रवौ सो दसरथ अजिर बिहारी॥

... ... इससे अधिक शांकर 'मायावाद' का स्पष्टीकरण और क्या हो सकता है। ... ...इससे कुछ ही आगे... गोस्वामी जी मायावाद के सिद्धांतों का और भी विस्तृत वर्णन करते हैं। यथा—

जथा गगन घन पटल निहारी। झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी॥
चितव जो लोचन अंगुलि लाएँ। प्रगट जुगल ससि तेहि के भाएँ॥
उमा राम-बिषयक अस मोहा। नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा॥
बिषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता॥
सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥
जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ग्यान-गुण-धामू॥
जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥
रजत सीप महँ भास जिमि, जथा भानु कर बारि।
जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ, भ्रम न सकै कोउ टारि॥
एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई॥
ज्यों सपने सिर काटै कोई। बिनु जागे न दूरि दुख होई॥
जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपालु रघुराई॥
आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमान निगम अस गावा॥

"यहाँ एक शंका होती है कि ब्रह्म जब स्वयंप्रकाश है, तब फिर उसके विषय में भ्रम क्यों हो रहा है?......अविद्या जीव की दृष्टि को (दर्शनशक्ति को) आच्छादित कर देती है जिससे इसे बिना अविद्या दूर किए ब्रह्म का यथार्थ बोध नहीं होता। यही आशय कुछ ही पूर्व की चौपाइयों में भी स्पष्ट किया जा चुका है—

राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह-निसा लवलेसा॥
सहज प्रकास रूप भगवाना। नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना॥
हरष बिषाद ग्यान अग्याना। जीव-धर्म अहमिति अभिमाना॥

इत्यादि कहकर और कुछ शांकरवाद अभिमत शंकाओं को उपस्थित और उसी मतानुसार उनका समाधान कर आक्षेप करते हैं—"क्या अब भी श्री गोस्वामी जी के शंकरमतानुयायी होने में कोई संदेह रह जाता है?" खेद के साथ कहना पड़ता है कि चतुर्वेदी जी ने यहाँ गोस्वामी जी के वाक्य की संगति का बिलकुल तिरस्कार करके मनमाना अर्थ लगाया है। केवल यही नहीं किंतु अपनी ओर से शब्दों का आरोप करके और का और अर्थ निकालने की

चेष्टा की है। जैसे भ्रम के वर्णन को, जो पार्वती जी के प्रश्न से स्पष्ट है, अविद्या कहा है। यह प्रसंग कुछ लंबा है, अतः पाठकों से यह प्रार्थना करके कि वे स्वयं यह प्रकरण पूरा पढ़कर चतुर्वेदी जी के प्रश्न का यथार्थ उत्तर निकालने की कृपा करें, मैं, यथा शक्ति, संक्षेप में पूर्वोक्त पंक्तियों के वास्तविक संबंध और गोस्वामी जी के अभिप्राय का दिग्दर्शन कराता हूँ।

पहले तो पार्वती जी का प्रश्न इस प्रकार है:—

× × ×

तौं प्रभु हरहु मोर अग्याना। कहि रघुनाथ कथा-बिधि नाना।
जासु भवन सुरतरु-तर होई। सहि कि दरिद्रजनित दुख सोई।

(पृ० ५१)

× × ×

प्रभु जे मुनि परमारथबादी। कहहिं राम कहुँ ब्रह्म अनादी।
सेष सारदा बेद पुराना। सकल करहिं रघुपति-गुन-गाना।
तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंग-अराती।
राम सो अवध-नृपति-सुत सोई। की अज अगुन अलखगति कोई।

जौं नृपतनय तो ब्रह्म किमि नारि-बिरह-मतभोरि।
देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि॥

× × ×

प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन-बपु-धारी।

× × ×

पुनि प्रभु कहहु सो तत्व बखानी। जेहि बिग्यान मगन मुनि ग्यानी।
भगति ग्यान बिग्यान बिरागा। पुनि सब बरनहु सहित बिभागा।

× × ×

(पृ० ५२)

यह प्रश्न सुनकर महादेव जी ने कथा प्रारंभ करने के पहले परमेश्वर का ध्यान किया:—

हरि-हिय रामचरित सब आए। प्रेम पुलक लोचन जल छाए।
श्री-रघुनाथ-रूप उर आवा। परमानंद अमित सुख पावा।
(पृ० ५२)

यहाँ गोस्वामी जी ने ज्ञानमय महादेव जी से सगुण ब्रह्म का ध्यान कराया है जिसके चरित्र-स्मरण से भोलानाथ प्रेम में मग्न हो गए और जिसके रूप के हृदयस्थ होने से परम आनंद और असीम सुख प्राप्त हुआ। इसके उपरांत पहले महादेव जी ने पार्वती जी के इस प्रश्न का उत्तर दिया कि "जिस राम को आप जपते हैं, वह अवध के राज-कुल-तिलक हैं या अज, निर्गुण, अव्यक्त ब्रह्म? यदि राज-कुमार हैं, तब वह ब्रह्म किस तरह हो सकते हैं?" महादेव जी कहते हैं :—

झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि भुजंग बिनु रज्जु पहिचाने॥
जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा सपनभ्रम जाई॥
(पृ० ५२)

ऐसा शुद्ध ब्रह्म ही राम है, परंतु वह निर्गुण नहीं है किंतु नाम और गुणवाला है :—

बंदौं बाल-रूप सोइ रामू। सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू॥
(पृ० ५२)

× × ×

राम-नाम-गुन-चरित सुहाए। जनम करम अगनित श्रुति गाए॥
जथा अनंत राम भगवाना। तथा कथा कीरति गुन नाना॥
तदपि जथाश्रुत जसि मति मोरी। कहिहौं देखि प्रीति अति तोरी॥
(पृ० ५३)

वह नाम और गुणवाले भी कैसे? जिनकी एक एक कथा, कीर्ति और गुण अनंत हैं। क्या उनकी कथा, कीर्ति, गुण इत्यादि दो चार या दस बीस हैं? नहीं! उनकी ये अनंत कथाएँ, कीर्तियाँ, गुण इत्यादि भी 'अगनित' हैं, वे भी इतनी ज्यादः हैं कि उनकी

गिनती हो ही नहीं सकती ! साक्षात् शक्तिस्वरूपा पार्वती जी से महादेव जी कहते हैं :—

एक बात नहिं मोहिं सुहानी। जदपि मोहबस कहेहु भवानी ॥
तुम्ह जो कहा राम कोउ आना। जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना॥
(पृ० ५३)

और पार्वती जी का यह बात कहना इसलिये बुरा लगा कि—

कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जो मोह-पिसाच।
पाखंडी हरि-पद-बिमुख जानहिं झूठ न साँच ॥

× × ×

(पृ० ५३)

मुकुर मलिन अरु नयनबिहीना। रामरूप देखहिं किमि दीना ॥
जिन्ह के अगुन न सगुन बिबेका। जल्पहिं कल्पित बचन अनेका ॥
हरि-माया-बस जगत भ्रमाहीं। तिन्हहिं कहत कछु अघटित नाहीं ॥
(पृ० ५४)

× × ×

इसलिये, हे गिरिराज-कुमारी, तुम्हारा ऐसा भ्रम करना सर्वथा अनुचित है और तुम्हें इस पर विचार कर संशय-रहित हो कर राम-पद का भजन करना चाहिए; क्योंकि :—

सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा ॥
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत-प्रेम-बस सगुन सो होई ॥
जो गुनरहित अगुन सोइ कैसें। जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसें ॥
(पृ० ५४)

क्या तुम्हें यह भ्रम है कि शुद्ध परब्रह्म जब शरीर धारण करता है, तब वह माया-विशिष्ट हो जाता है ? यह बात नहीं है ! जिसके नाम का यह प्रताप है कि उसके भजने से माया-अंधकार नष्ट हो जाय, वह स्वयं कैसे माया में फँस सकता है ? उस में माया का लवलेश भी नहीं है। सुनो :—

जासु नाम भ्रम-तिमिर-पतंगा। तेहि किमि कहिअ बिमोह प्रसंगा॥
राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह-निसा-लव-लेसा॥

× × ×

राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना॥
पुरुष प्रसिद्ध प्रकासनिधि प्रकट परावरनाथ।
रघु-कुल मनि मम स्वामि सोइ कहि सिव नायेउ माथ॥
(पृ० ५४)

हे पार्वती! तुम्हें क्या यह संदेह है (शांकर अद्वैत वाद के समान) कि शुद्ध ब्रह्म निर्गुण निराकार है और जिसे लोग ब्रह्म का अवतार कहते हैं, वह शुद्ध ब्रह्म नहीं किंतु माया-विशिष्ट सोपाधि रूप हैं, इसलिये श्री रामचन्द्र भी माया-विशिष्ट सोपाधि रूप हैं? यह तुम्हारी बिलकुल भूल है—

निज भ्रम नहिं समुझहिं अग्यानी। प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी॥
(पृ० ५४)

और प्रभु को अपने ऐसा जानकर तरह तरह के भ्रम कर उससे ऐसा उलटा-पलटा सिद्धांत सिद्ध करते हैं:—

जथा गगन घनपटल निहारी। झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी॥
चितव जो लोचन अंगुलि लाएँ। प्रगट जुगल ससि तेहि के भाएँ॥
उमा राम-बिषयक अस मोहा। नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा॥
बिषय, करन, सुर, जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता॥
सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥
जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ग्यान – गुन – धामू॥
जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥
रजत सीप महुँ भास जिमि जथा भानु कर बारि।
जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ भ्रम न सकै कोउ टारि॥
एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई॥
जौं सपने सिर काटै कोई। बिनु जागें न दूरि दुख होई॥
(पृ० ५४–५५)

हे भगवती ! असल में मनुष्य की बुद्धि हीन है, परंतु माया-जाल में फँसकर वह अहंकार के कारण अपने अज्ञान को ज्ञान समझकर तरह तरह के तर्क वितर्क कर मायावाद, मिथ्यावाद, उपाधिवाद को मानने योग्य सिद्धांत समझ बैठता है। यथार्थ रूप से ये सब केवल अहंकार जनित भ्रम हैं। ब्रह्मा आदि देवताओं में भी यह सामर्थ्य नहीं है कि वे इस भ्रम को मिटा सकें। हाँ—

जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपालु रघुराई।

(पृ० ५५)

मैं तो तुमसे पहले ही कह चुका हूँ कि :—

जथा अनंत राम भगवाना। तथा कथा कीरति गुन नाना॥

भला तुम्हीं समझो कि ऐसे अनंत राम के चरित्रों, गुणों और रूपों को कोई पूरी तरह जान सकता है ? अगर कोई यह जान सके तो वह राम अनंत कैसे हो सकता है ? उसके तो बिलकुल विचित्र चरित्र हैं। उसके विषय में एक परिमित मत सिद्ध करना :—

आदि अंत काउ जासु न पावा। मति अनुमान निगम अस गावा॥
बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु करम करै बिधि नाना॥
आननरहित सकल-रस-भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥
तन बिनु परस, नयन बिनु देखा। ग्रहै घ्रान बिनु बास असेखा॥
असि सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी॥
जेहि इमि गावहिं बेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथसुत भगतहित कोसलपति भगवान॥

× × × ×

सो राम परमातमा भवानी। तहँ भ्रम अति अबिहित तव बानी।
अस संसय आनत उर माहीं। ग्यान बिराग सकल गुन जाहीं।

(पृ० ५५)

इसके आगे गोस्वामी जी ने लिखा है कि यह वाक्य सुनने से भ्रम नष्ट हो गया। मेरी भी ईश्वर से प्रार्थना है कि हम लोगों का भी:—

सुनि सिव के भ्रम-भंजन बचना। मिटि गै सब कुतरक कै रचना॥

पाठकगण देखेंगे कि व्याप्य व्यापक, प्रकाश्य प्रकाशक आदि शब्द और गोस्वामी जी की वाक्य-संगति दोनों मायावाद का स्पष्ट विरोध दिखा रहे हैं। इतने पर भी कदाचित् हम लोगों का भ्रम बना ही रहे तो यही कहना पड़ता है—

बोले बिहँसि महेस तब ग्यानी मूढ़ न कोइ।
जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ॥

(पृ० ५७)

इसके बाद चतुर्वेदी जी 'बैठे सुर सब करहिं बिचारा' इत्यादि का प्रमाण देकर यह नतीजा निकालते हैं कि "पाठक देखेंगे कि यहाँ गोस्वामी जी ने वेदांत-शास्त्राभिमत ब्रह्म का ही अवतार बताते हुए अवतारवाद के विपक्षियों को भी मुँहतोड़ उत्तर दिया है। और इस प्रकरण से भी उनकी अद्वैतमतानुयायिता स्पष्ट होती है।

"आगे भी बाललीला में आपने व्यापक ब्रह्म का ही अवतार रामचंद्र को बताया है—

व्यापक अकल अनीह अज निर्गुण नाम न रूप।
भगत-हेतु नाना बिधि करत चरित्र अनूप॥

"......इस दोहे के पूर्वार्ध में जितने विशेषण दिए गए हैं, वे सब एकांततः शंकर-सिद्धांत के अनुकूल हैं। अन्य सिद्धांतों में इन विशेषणों की स्वरसता कदापि सुसंघटित नहीं होती। अर्थात् इस प्रकार का ब्रह्म दूसरे सिद्धांतों में नहीं माना जाता।" आपके इस लेख ने हमें ऐसा चकित कर दिया है कि समझ में नहीं आता कि क्या लिखें। धन्य हैं गोस्वामी श्री तुलसीदास जी और धन्य है उनका महाकाव्य जिन्होंने चतुर्वेदी जी से यह सिद्धांत सिद्ध कराया है कि अद्वैत कथित 'अकल, अनीह, अज, निर्गुण ब्रह्म' भक्त अथवा किसी हेतु से मायाविशिष्ट हुए बिना ही अवतार लेता है और 'नाना विधि' के 'अनूप चरित्र' भी करता है!

अब आप 'लेख-विस्तार के भय से' बाल कांड छोड़ अयोध्या कांड से "दो एक स्थल उदाहरणार्थ दिखाते हैं।" आपका पहला

उदाहरण श्री लक्ष्मण जी का वाक्य है जिससे आप सिद्ध करते हैं कि "यह प्रकरण भी संपूर्णतः शांकर-अद्वैतमत की व्याख्या के अनुकूल ही है।" चतुर्वेदी जी

"बोले लषन मधुर-मृदु बानी। ग्यान-बिराग-भगति-रस सानी॥
जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय-बिलास बिरागा॥"

पर्यंत लिखकर अपने स्वभाव के अनुसार श्री लक्ष्मण जी के वाक्य पूरे नहीं करते। इसके आगे लक्ष्मण जी यों कहते हैं:—

होइ बिबेकु मोहभ्रम भागा। तब रघु-नाथ-चरन अनुरागा॥
सखा परम परमारथु एहू। मन-क्रम-बचन रामपद-नेहू॥
राम ब्रह्म परमारथरूपा। अबिगत, अलख, अनादि, अनूपा॥
सकल-बिकार-रहित गतभेदा। कहि नित नेति निरूपहिं बेदा॥
भगत भूमि भूसुर सुरभि सुरहित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तन सुनत मिटहिं जगजाल॥

(पृ० १६३)

इसके अनुसार ज्ञान होने पर, माया-जनित भ्रम के हट जाने पर 'रघु-नाथ-चरन अनुराग' होता है, न कि वह जीव ब्रह्म हो जाता है। इसके अतिरिक्त इसका 'सकल-बिकार-रहित' ब्रह्म भी 'करत चरित धरि मनुज तन।' इसलिये 'यह प्रकरण भी संपूर्णतः शांकर-अद्वैतमत के अनुकूल' नहीं।

"राम, लक्ष्मण और सीता के बन में चलने के संबंध में जो श्री गोस्वामी जी की" उपमा है, उस पर चतुर्वेदी जी ने अपना संतोष प्रकट करते हुए लिखा है कि "उससे भी अद्वैतवाद की बड़े विलक्षण चमत्कार से पुष्टि की गई है"। आपने दो चौपाइयाँ दी हैं:—

"आगे राम लषन पुनि पाछे। तापस बेष बिराजत काछे।
उभय मध्य सिय सोहति कैसी। ब्रह्म जीव बिच माया जैसी॥"

इस पर मेरा निवेदन है कि क्या यह सिद्धांत विशिष्टाद्वैत की पुष्टि नहीं करता? गोस्वामी जी ने इस भाव को तीन उपमाओं से पूरा किया है। बाकी दो उपमाएँ यह हैं:—

जनु मधु-मदन-मध्य रति लसई ॥
बहुरि कहौं छवि जसि मन बसई। जनु बुध बिधु बिच रोहिनि सोही॥
उपमा बहुरि कहौं जिअ जाही।

(पृ० २०५)

के लिये 'विलक्षण चमत्कार है।

यह सच-मुच अद्वैतवाद की 'पुष्टि' के लिये 'विलक्षण चमत्कार है।

"इसी अभेद भाव को कुछ ही आगे चलकर श्री गोस्वामी जी ने इतना स्पष्ट किया है कि मानों वहाँ अद्वैतामृत की वर्षा से जिज्ञासु जन के मनोमयूर सहसा नाच उठते हैं।......वाल्मीकि मुनि......अपना कथन यों आरम्भ करते हैं:—

"श्रुति सेतुपालक राम तुम्ह जगदीसमाया जानकी ।
जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की ॥
जो सहस सीसु अहीसु महि धरु लषनु सचराचर धनी ।
सुरकाज धरि नरराज-तनु चले दलन खल-निसिचर-अनी ॥
राम सरूप तुम्हार बचन अगोचर बुद्धिपर ।
अबिगत अकथ अपार, नेति नेति नित निगम कह ॥
जग पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि-हरि-संभु नचावनहारे ॥
तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा। अउर तुम्हहि को जाननहारा ॥
सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई ॥
तुम्हरिहि कृपा तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत-उर-चंदन ॥
चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत-बिकार जान अधिकारी ॥
× × × × ×
पूछेहु मोहिं कि रहौं कहँ मैं पूछत सकुचाउँ।
जहाँ न होहु तहँ देहुँ कहि तुम्हहि देखावौं ठाउँ ॥ इत्यादि"

पहले तो मैं इसमें आगे पीछे और बीच की चौपाइयाँ देकर इसे पूरा करता हूँ। 'श्रुति सेतुपालक राम तुम्ह' इत्यादि छंद के पहले वाल्मीकि मुनि "अपना कथन यों आरंभ करते हैं":—

कस न कहहु अस रघु-कुल-केतू। तुम्ह पालक संतत श्रुति सेतू।

(पृ० २०६)

'चिदानंदमय देह तुम्हारी' इत्यादि के अनंतर यह चौपाइयाँ हैं:—

भरतनु धरेहु संत-सुर-काजा। कहहु करहु जस प्राकृत राजा।
राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे।
तुम्ह जो कहहु करहु सबु साँचा। जस काछिअ तस चाहिअ नाचा।

दो०—पूछेहु मोहिं कि रहौं कहँ मैं पूछत सकुचाउँ।
जहँ न होहु तहँ देहुँ कहि तुम्हहि देखावौं ठाउँ॥

सुनि मुनि-बचन प्रेमरस-साने। सकुचि राम मन-महुँ मुसुकाने।
बालमीकि हँसि कहहिं बहोरी। बानी मधुर अमिअ-रस बोरी।
सुनहु राम अब कहौं निकेता। जहाँ बसहु सिय-लखन-समेता।
जिन्ह के श्रवन समुद्रसमाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना।
भरहिं निरंतर होहिं न पूरे। तिन्ह के हिय तुम्ह कहँ गृह रूरे।

× × × × ×

दो०—स्वामि सखा पितु मातु गुर जिन्ह के सब तुम्ह तात।
मनमंदिर तिन्ह के बसहु सीय सहित दोउ भ्रात॥

(पृ० २०८)

इत्यदि इसी भाव की रचना है। यह सत्य है कि गोस्वामी जी में अभेद भाव था; पर उनका अभेद भाव भक्तिमार्ग की पराकष्ठा का अभेद भाव था—वह अपने इष्ट श्री राम को सर्व-शक्तिमान्, सर्व-व्याप्त, सर्वगुणनिधान, अज, अप्रमेय, अव्यक्त ब्रह्म समझते थे; वह सारे जगत् को राममय जान कर केवल सत्य ही नहीं किंतु वंदनीय भी समझते थे। यहाँ भी गोस्वामी जी ने बिलकुल स्पष्ट कहा है 'तुम्ह जो कहहु करहु सबु साँचा'। यह अद्वैत मत के विरुद्ध है। गोस्वामी जी की वाक्य-संगति का ध्यान रखने से, जितना अंश आपने ग्रहण किया है, उससे भी यही स्पष्ट होता है। इस पर जो चतुर्वेदी जी का लंबा लेख है, वह उनका निज का दार्शनिक विचार है न कि गोस्वामी जी का। इस संबंध के लेख के अंत में आप कहते हैं—"ज्ञान के साधनों में गोस्वामी जी भक्ति को सब से उत्कृष्ट अवश्य समझते हैं; किंतु भक्ति से ईश्वर की प्रसन्नता संपादित कर ज्ञान प्राप्त करते ही मुक्ति हो जाती है, यह सिद्धांत उक्त चौपाई से

प्रस्फुटित हो गया है। 'जिसको आप जनाते हैं, वही जानता है' यह भक्ति ज्ञान का साधन रहा। और 'आपको जानते ही आप रूप हो जाता है', यह ज्ञान का फल बताया गया। ज्ञान के अनंतर किसी साधन विशेष की आवश्यकता नहीं, न साधन उस समय हो ही सकता है, यही शांकर सिद्धांत है। सो इस सिद्धांत का भी यहाँ गोस्वामी जी ने पूर्ण अनुगमन किया। और आगे भी 'आपकी कृपा से भक्त लोग आपको जान सकते हैं, आपका स्वरूप चिदानंदमय, विकार-रहित है। उस स्वरूप को उसके अधिकारी ही जानते हैं'— इत्यादि कहते हुए ज्ञान और उसके अधिकारी की श्रेष्ठता स्फुट रूप से बताई है। 'मुझसे आप पूछते हैं कि मैं कहाँ रहूँ, सो इसका उत्तर देने में मुझे बड़ा संकोच है। मैं नहीं जानता कि आप कहाँ नहीं हैं। यदि कहीं न होते तो वहाँ रहने का स्थान बताता।' इत्यादि उक्ति-चातुरी से आगे भी भगवान् वाल्मीकि के वाक्यों में राम की व्यापकता का ही विस्तार बताया गया है। किंतु आगे की चौपाइयों का प्रकृत विषय से कोई संबंध न होने के कारण उनपर विस्तार से लिखना अनावश्यक है।" अब विचार कीजिए कि इस लेख में क्या तत्त्व है। वाल्मीकि मुनि के वाक्य की पहली ही चौपाई—

'कस न कहहु अस रघु-कुल-केतू। तुम्ह पालक संतत श्रुति सेतू॥'

से सिद्ध होता है कि गोस्वामी जी यहाँ सगुण ब्रह्म का ही निरूपण कर रहे हैं। मायारूपी जानकी के बारे में भी 'जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की' से यही जान पड़ता है कि सगुण ब्रह्म और उसकी माया, प्रकृति, शक्ति अथवा परमेश्वर की इच्छा जो सगुण ब्रह्म के इच्छानुसार काम करती है, उद्देश्य है। यह आगे की चौपाई:—

'जगु पेखन तुम देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे॥'

से भी स्पष्ट होता है।

'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई॥'

से चतुर्वेदी जी मतलब निकालते हैं कि पहले पद से "भक्ति ज्ञान

का साधन रही"। यह अर्थ न शब्दों से निकलता है न वाक्य संगति से। इसका सीधा अर्थ यह है कि आपका रूप तो 'वचन अगोचर बुद्धिपर अबिगत अकथ अपार' है। वेद भी हारकर नेति नेति कहता है। 'बिधि हरि संभु' भी 'न जानहिं मरमु तुम्हारा'। फिर भला और कौन जान सकता है। हाँ जिस पर आप स्वयं अनुग्रह करें, वही जान सकता है। दूसरे पद से आप मतलब लगाते हैं कि "ज्ञान प्राप्त करते ही मुक्ति हो जाती है"। गोस्वामी जी ने यहाँ 'मुक्ति' का प्रयोग नहीं किया है। उन्होंने भक्ति मार्ग की पराकाष्ठा का प्रयोग किया है। यही अर्थ चतुर्वेदी जी भी स्वीकार करते हैं—'आपको जानते ही आप रूप हो जाता है'। अपने इष्ट के तद्रूप हो जाना भक्तिमार्ग का अंतिम फल है। अद्वैत मार्ग में ब्रह्म सर्वथा अप्रमेय है। उसे कोई जान नहीं सकता, वह ज्ञान स्वरूप है, ज्ञान का विषय नहीं है। ज्ञान होने पर ज्ञानी यह जान लेता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ' अर्थात् ज्ञानी ब्रह्म को नहीं जानता किंतु अपने को जान लेता है। इसके आगे चतुर्वेदी जी यह कहकर कि ज्ञान के अनंतर कुछ साधन नहीं है, चट सिद्ध कर लेते हैं कि गोस्वामी जी इस मत के अनुगामी हैं, परंतु इसका कोई प्रमाण नहीं देते। 'चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी।' के आधार पर लेखक महाशय सिद्ध करते हैं कि "ज्ञान व उसके अधिकारी की श्रेष्ठता स्फुट रूप से बताई है" और आगे कहते हैं —"आगे की चौपाइयों का प्रकृत विषय से कोई संबंध न होने के कारण उन पर विस्तार से लिखना अनावश्यक है।" आपका शायद उस 'ज्ञान' और 'अधिकारी' से मतलब है जिसका शांकरवाद में निरूपण है। परंतु गोस्वामी जी के विचार-निरूपण के लिये 'आगे की चौपाइयों का प्रकृत विषय से' अवश्य संबंध है। उनमें उन्होंने अधिकारियों के लक्षण बताए हैं। इनसे और अद्वैत-कथित अधिकारियों से बहुत अंतर है; जैसेः—

सबु करि माँगहिं एकु फल राम-चरन-रति होउ।
तिन्ह के मन मंदिर बसहु सिय रघुनंदन दोउ॥ (पृ० २०८)

"आरण्य कांड में तत्वज्ञान का एक ख़ास प्रकरण है, जहाँ लक्ष्मण के प्रश्न पर स्वयं भगवान् रामचन्द्र ने श्रीमुख से जीव, ईश्वर, माया आदि का स्वरूप समझाया है। कहने की आवश्यकता न होगी कि यह प्रकरण भी अक्षरशः शंकर सिद्धांत के अनुकूल है .....स्वच्छ दर्पण की तरह इसमें अद्वैतवाद के मुख्य तत्त्व स्फुट प्रकाशित हो रहे हैं। अब पाठक उस प्रश्नोत्तर की ओर सावधान होकर दृष्टिपात करें—

"एक बार प्रभु सुख आसीना। लछिमन बचन कहे छलहीना॥
सुर नर मुनि सचराचर साईं। मैं पूछौं निज प्रभु की नाईं॥
मोहि समुझाइ कहहु सो देवा। सब तजि करौं चरण-रज-सेवा॥
कहहु ग्यान बिराग अरु माया। कहहु सो भगति करहु जेहि दाया॥

ईश्वर जीवहि भेद प्रभु कहहु सकल समुझाइ।
जातें होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाइ॥

"प्रश्न के शब्द अत्यंत स्पष्ट हैं। एकांत में बैठे प्रभु रामचंद्र से लक्ष्मण ने ज्ञान, वैराग्य, माया, भक्ति, जीव, ईश्वर और उनके भेद तथा उन सब का स्वरूप समझाने की प्रार्थना की है। अब भगवान् रामचंद्र का उत्तर सुनिए:—

"थोरेहि महुँ सब कहौं बुझाई। सुनहु तात मति मनु चित लाई॥
मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हे जीवनिकाया॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। बिद्या अपर अबिद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भव-कूपा॥
एक रचै जग गुन-बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके॥
ग्यान मान जहँ एकौ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥
कहिअ तात सो परम बिरागी। तृन-सम सिद्धि तीनि-गुन-त्यागी॥

माया ईस न आपु कहँ, जान कहिअ सो जीव।
बंध मोच्छ-प्रद सर्वपर, माया-प्रेरक सीव॥

धर्म तें बिरति जोग तें ज्ञाना। ग्यान-मोच्छप्रद बेद बखाना॥

जाते बेगि द्रवौं मैं भाई। सो मम भगति भगत-सुखदाई॥
सो सुतंत्र अवलंबन न आना। तेहि आधीन ग्यान बिग्याना॥
भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलै जो संत होहिं अनुकूला॥"

यहाँ पहले तो गोस्वामी जी ने भक्ति को केवल स्वतंत्र ही नहीं किंतु ज्ञान को भी भक्ति के अधीन बताया है। इसके आगे राम वाक्य यों पूरा होता है:—

भगति के साधन कहौं बखानी। सुगम पंथ मोहिं पावहिं प्रानी॥
प्रथमहिं बिप्रचरन अति प्रीती। निज निज धरम निरत श्रुति रीती॥
यहि कर फल पुनि बिषय-बिरागा। तब मम चरन उपज अनुरागा॥
श्रवनादिक नव भगति दृढ़ाहीं। मम-लीला-रति अति मन माहीं॥
संत-चरन-पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा॥
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहिं कहँ जानै दृढ सेवा॥
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥
काम आदि मद दंभ न जाके। तात निरंतर बस मैं ताके॥

बचन करम मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करौं सदा बिश्राम॥

(पृ० २६६)

यहाँ चतुर्वेदी जी का अच्छे पांडित्य का लेख है; परंतु खेद के साथ कहना पड़ता है कि यह तत्त्व-निरूपण का वाद * नहीं किंतु अपने पूर्व-निश्चित संकल्प को सिद्ध करने का जल्प * है। गोस्वामी जी के आंतरिक भाव जानने के लिये उन्हीं का वाक्य

---

* शास्त्रार्थ या वादविवाद तीन प्रकार के होते हैं (क) वाद, (ख) जल्प और (ग) वितंडा।

(क) तत्त्व-निरूपण की बहस 'वाद' है।

(ख) तत्त्व-निरूपण की परवाह न कर केवल अपने पक्ष को सिद्ध करना 'जल्प' है।

(ग) और इसी तरह दूसरे के पक्ष का खंडन मात्र 'वितंडा' है।

प्रमाण माना जा सकता है। यहाँ इस संवाद के बाद गोस्वामी जी कहते हैं:—

भगति जोग सुनि अति सुख पावा। लछिमन प्रभु चरनन्हि सिरु नावा॥

'श्रवनादिक नव भगति दृढ़ाहीं' और इस चौपाई से गोस्वामी जी ने स्पष्ट कर दिया है कि श्रीमद्भागवत में जो नौ प्रकार की भक्ति का निरूपण है, वही गोस्वामी जी को अभिप्रेत है और यहाँ उन्होंने भक्ति-योग कहा है। जब इनके अनुसार भक्ति मार्ग का अनुयायी, सीधा सीधा अर्थ लग सकता है, तब अत्युक्ति से, पूर्वोक्त संवाद का, अद्वैतमतानुयायी अर्थ लगाना केवल अप्रामाणिक ही नहीं किंतु अर्थ का अनर्थ भी है।

"यों रामचरितमानस के अनेक स्थलों की विस्तृत व्याख्या करके" लेखक महाशय अपने अभीष्ट अर्थ लगाकर गोस्वामी जी का "शांकर सिद्धांतानुयायी होना" स्पष्ट करते हैं और आगे कहते हैं— "अन्यान्य भी ऐसे प्रकरण रामायण में बहुत हैं" ... ..."और यह सब शांकर सिद्धांत के अनुकूल ही हैं। किंतु अब यह लेख बहुत विस्तृत हो गया, अतः अधिक कहना हम अनुपयुक्त समझते हैं।" उत्तर कांड में "उनकी विशेष व्याख्या न की जायगी। पाठक सज्जन ही विचार कर देख लें कि ये सब शांकर सिद्धांत का किस प्रकार अनुसरण कर रही हैं।" यहाँ वेदों की स्तुति 'जो जानहिं ते जानहु स्वामी। सगुन अगुन उर अंतरजामी' इत्यादि पर आप की ऐसी उक्तियाँ हैं जिन पर विशेष कहना अनावश्यक है; क्योंकि जिन्होंने गोस्वामी जी के वाक्यों पर यहाँ तक विचार किया है, वे इन्हें भी समझ लेंगे।

"आगे श्री रामचन्द्र अपने भ्राताओं को उपदेश देते हैं—

"अस बिचारि जे परम सयाने। भजहिं मोहि संसृति दुख जाने॥
त्यागहिं कर्म सुभासुभदायक। भजहिं मोहि सुर-नर-मुनिनायक॥
सुनहु तात मायाकृत गुन अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखिअहिं देखिअ सो अबिबेक॥

"यहाँ वेदांताभिमत सर्व कर्म त्याग, गुण और दोषों की मायिकता व परमार्थ दृष्टि में दोनों का अदर्शन बताया गया है"। यहाँ गोस्वामी जी ने 'सर्व कर्म त्याग' नहीं कहा है। शुभदायक अर्थात् काम्य कर्म और अशुभदायक अर्थात निषिद्ध कर्म कहने ही से साफ़ मालूम होता है कि इसमें निष्काम कर्म अथवा नित्य कर्म शामिल नहीं हैं। यह उपदेश अवश्य है, पर संतों और असंतों का लक्षण मात्र है। इस के पूर्व ही श्री रामचंद्र जी कहते हैं :—

नर सरीर धरि जे परपीरा। करहिं ते सहहिं महा भव-भीरा॥
करहिं मोह बस नर अघ नाना। स्वारथरत परलोक नसाना॥
कालरूप तिन्ह कहुँ मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ करम-फलदाता॥
(पृ० ४५८)

इसके और पूर्व :—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। परपीड़ा सम नहिं अधमाई॥
(पृ० ४५८)

इसके और भी पूर्व असंतों के लक्षण हैं; जैसे :—

स्वारथ-रत परिवार-बिरोधी। लंपट काम लोभ अति क्रोधी॥
मातु पिता गुरु बिप्र न मानहिं। आपु गए अरु घालहिं आनहिं॥
करहिं मोह-बस द्रोह परावा। संत संग हरिकथा न भावा॥
(पृ० ४५८)

इस सब पर व्यापक दृष्टि से विचार करने पर यह तो गुण और दोषों का दर्शन है, न कि अदर्शन।

"आगे गरुड़ के प्रति काक के उपदेश में ब्रह्म का वेदांताभित विस्तृत निरूपण है। उसमें से कुछ अंश हम यहाँ उद्धृत करते हैं—

"व्यापि रहेउ संसार महुँ माया कटक प्रचंड।
सेनापति कामादि भट दंभ कपट पाखंड॥
सो दासी रघुबीर की समुझे मिथ्या सोपि।
छुटै न राम-कृपा बिनु नाथ कहौं पद रोपि॥
व्यापक व्याप अखंड अनंता। अखिल अमोघ शक्ति भगवंता॥

सोइ सच्चिदानंदघन रामा। अज विग्यान रूप बलधामा॥
अगुन अदभ्र गिरागोतीता। समदरसी अनवद्य अजीता॥
निर्मल निराकार निर्मोहा। नित्य निरंजन सुख संदोहा॥

भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।
किए चरित पावन परम प्राकृत नर-अनुरूप॥
जथा अनेक बेष धरि नृत्य करै नट कोइ।
सोइ सोइ भाव देखावै आपनु होइ न सोइ॥

"आगे भी इस प्रकरण में बहुत कुछ वेदांत विषय है। ऐसे स्थलों की व्याख्या बहुधा हो चुकी है। इस प्रकरण में यह विशेषता है कि यहाँ भगवान् रामचंद्र के प्राकृत चरित्रों का समाधान इसी रूप में किया गया है कि अज्ञानियों को भगवान् राम में प्राकृत चरित्रों का आभास होता है। यथार्थ में वे चरित हैं ही नहीं। इससे बढ़कर मायिकता का सिद्धांत क्या कहा जा सकता है।" बड़े परिताप का विषय है कि इस स्थल पर चतुर्वेदी जी ने काट छाँट ही नहीं की, बल्कि मूल का क्रम भी बदल दिया है। 'व्यापि रहेउ संसार महुँ' इत्यादि दोहों के बाद की चौपाइयों में दो ऊपर की और दो नीचे की छोड़ गए हैं। 'व्यापक व्याप अखंड अनंता' और 'सोइ सच्चिदानंदघन रामा' का क्रम बदल दिया है। 'जथा अनेक बेष धरि' इत्यादि दोहे के आगे की चौपाइयाँ—जिनसे इस दोहे से अत्यंत घनिष्ट संबंध है—केवल छोड़े ही नहीं गए हैं, प्रत्युत् अपनी माया का पूर्ण विकास करने के लिये प्रारंभ में यह कहकर कि "आगे गरुड़ के प्रति काक के उपदेश में ब्रह्म का वेदांताभिमत विस्तृत निरूपण है" इस दोहे के अनंतर कहते हैं कि "आगे भी इस प्रकरण में बहुत कुछ वेदांत विषय है" जिसमें पाठकों को यही विश्वास हो कि इसके आगे भी गोस्वामी जी के विचार इससे मिलते जुलते हैं, कम से कम इसके विपरीत नहीं हैं। वास्तव में गोस्वामी जी अद्वैत कथित 'मायिकता' के विरोधी थे; और रामचरितमानस में जहाँ जहाँ उन्होंने ऐसे मत का उल्लेख किया है, वहाँ वहाँ उनका यही प्रयोजन

था कि इस मत का खंडन करें। जिस 'कुछ अंश' को आपने प्रमाण माना है, उसका सच्चा रूप यह है:—

> ब्यापि रहेउ संसार महुँ मायाकटक प्रचंड।
> सेनापति कामादि भट दंभ कपट पाखंड॥
> सो दासी रघुबीर कै समुझे मिथ्या सोपि।
> छूट न राम-कृपा बिनु नाथ कहौं पद रोपि॥

जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा॥
सोइ प्रभु भ्रूबिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा॥
सोइ सच्चिदानंदघन रामा। अज बिग्यानरूप बलधामा॥
ब्यापक ब्याप्य अखंड अनंता। अखिल अमोघसक्ति भगवंता॥
अगुन अदभ्र गिरागोतीता। सबदरसी अनवद्य अजीता॥
निर्मल निराकार निर्मोहा। नित्य निरंजन सुखसंदोहा॥
प्रकृतिपार प्रभु सब उर बासी। ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी॥
इहाँ मोह कर कारन नाहीं। रबि सनमुख तम कबहुँ कि जाहीं॥

> भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।
> किए चरित पावन परम प्राकृत-नर-अनुरूप॥
> जथा अनेक वेष धरि नृत्य करै नट कोइ।
> सोइ सोइ भाव देखावै आपुन होइ न सोइ॥

असि रघु-पति-लीला उरगारी। दनुजबिमोहनि जन-सुख-कारी॥
जे मतिमलिन बिषयबस कामी। प्रभु पर मोह धरहिं इमि स्वामी॥
नयनदोष जा कहुँ जब होई। पीतबरन ससि कहँ कह सोई॥
जब जेहि दिसिभ्रम होइ खगेसा। सो कह पच्छिम उयेउ दिनेसा॥
नौकारूढ़ चलत जग देखा। अचल मोहबस आपुहि लेखा॥
बालक भ्रमहिं न भ्रमहिं गृहादी। कहहिं परसपर मिथ्याबादी॥
हरि बिषयक अस मोह बिहंगा। सपनेहुँ नहिं अ-ग्यान-प्रसंगा॥
मायाबस मतिमंद अभागी। हृदय जवनिका बहु बिधि लागी॥
ते सठ हठबस संसय करहीं। निज अग्यान राम पर धरहीं॥

काम-क्रोध-मद-लोभ-रत गृहासक्त दुखरूप।
ते किमि जानहिं रघुपतिहिं मूढ़ परे तमकूप॥
निर्गुनरूप सुलभ अति सगुन न जानहिं कोइ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनिमन भ्रम होइ॥

(पृ० ४७१-७२)

गोस्वामी जी के वाक्य बहुत स्पष्ट हैं। वह पहले ही यह प्रण करके कहते हैं कि जो प्रचंड माया-कटक संसार को व्याप रहा है, वह यदि मिथ्या समझो तब भी रामकृपा के बिना छूट नहीं सकता; और यह सब समाज सहित नटी का सा माया का नाच प्रभु के 'भ्रूबिलास' के कारण है। यह कहना आवश्यक नहीं कि यह माया का भाव न 'वेदांताभिमत' है न शांकर मत का मायावाद। इसके अनंतर गोस्वामी जी श्री रामचंद्र के गुणों का कुछ वर्णन करके कहते हैं कि 'इहाँ मोह कर कारन नाहीं। रबि सनमुख तम कबहुँ कि जाहीं।' वह तो भक्तों के हेतु प्राकृत-नर अनुरूप चरित्र करते हैं; परंतु उनके चरित्र कैसे हैं? मिथ्या! कदापि नहीं—वे "परम पावन" हैं। यदि कोई कहे कि 'अज्ञानियों को भगवान राम में प्राकृत चरित्रों का आभास होता है। यथार्थ में वे चरित हैं ही नहीं, यदि कोई समझे कि—

'जथा अनेक बेष धरि नृत्य करै नट कोइ।
सोइ सोइ भाव देखावै आपुन होइ न सोइ॥'

तब गोस्वामी जी के मत में 'जे मतिमलिन विषयबस कामी। प्रभु पर मोह धरहिं इमि स्वामी' वह उन नयन-रोगियों के समान हैं जो चंद्रमा को पीले रंग का बताते हैं, या उनके समान हैं जिनको ऐसा दिशा-भ्रम हो जाय कि वह कहने लगें कि सूर्य पश्चिम में उदय होता है, या उन मोह-ग्रस्त लोगों के समान हैं जो नाव में चलने से जगत को तो चलता हुआ समझें, पर अपने को अचल मानें, या उन अज्ञानी बालकों के समान हैं जो अपने घूमने से यह समझते हैं कि गृह आदि घूम रहे हैं। 'मिथ्यावादी' परमेश्वर के

संबंध में जो ऐसा कहते हैं, वह सपने में भी सत्य नहीं है; केवल उन मिथ्यावादियों के अज्ञान का प्रसंग है; वे मिथ्यावादी 'माया के वशीभूत,' 'मतिमंद,' 'अभागी,' 'सठ,' 'हठबस' हृदय पर बहुत तरह के परदे लगे होने के कारण संशय करते हैं और 'निज अज्ञान' को राम पर धरते हैं। प्रभु पर ऐसा मोह धरनेवाले, ऐसे मिथ्यावादी रघुपति को कैसे जान सकते हैं; क्योंकि वे तो दुःखरूपी 'काम' 'क्रोध' इत्यादि में आसक्त हैं और वे मूढ़ अंधकार कूप में पड़े हैं। यह मायिकता के सिद्धांत का प्रबल विरोध है।

ग्यान अखंड एक सीताबर। माया बस्य जीव सचराचर॥
जौं सबके रह ग्यान एकरस। ईश्वर जीवहिं भेद कहहु कस॥
माया बस्य जीव अभिमानी। ईस बस्य माया गुन-खानी॥
परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता॥
मुधा भेद जद्यपि कृत माया। बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया॥

(पृ० ४७३-७४)

"ऐसे स्पष्ट शब्दों में अद्वैतवाद और मायावाद के प्रतिपादन के शतशः स्थल हैं।" खेद है कि इस पर और इसी तरह और भी कई जगह लेखक महाशय ने व्याख्या नहीं की है; क्योंकि 'स्पष्ट' छोड़ इन चौपाइयों में छिपा हुआ भी अद्वैतवाद नहीं दिखाई देता। यह वाक्य तो कुछ द्वैतवाद की पुष्टि करता है।

"आगे लोमश ऋषि जहाँ काकभुशुंड जी को ज्ञान का उपदेश देने लगे हैं, वहाँ का सब प्रकरण अद्वैत का अक्षर अक्षर अनुगामी है—

"काकभुशुंड जी गरुड़ जी से कहते हैं कि—

"ब्रह्मग्यानरत मुनि बिग्यानी। मोहि परम अधिकारी जानी॥
लागे करन ब्रह्म उपदेसा। अज अद्वैत अगुण हृदयेसा॥
अकल अनीह अनाम अरूपा। अनुभवगम्य अखंड अनूपा॥
मनगोतीत अमल अबिनासी। निर्विकार निरवधि सुखरासी॥
सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहिं बेदा॥

× × × ×

"अब इस प्रकरण पर कोई टीका टिप्पणी की आवश्यकता नहीं। वेदांत शास्त्र में जिनका कुछ भी प्रवेश है, वे स्पष्ट समझ सकते हैं कि यह प्रकरण अक्षरशः शांकर-सिद्धांत का अनुवाद मात्र है; और गोस्वामी जी ने तत्त्वज्ञान के उपदेश-प्रसंग में यही उपदेश लिखा है। दूसरी बात यह है कि भुशुंडी जी भक्तिमार्ग के अधिकारी थे, वे सगुण-भक्ति में रुचि रखते थे, अतः उनको अपने अधिकारानुसार न होने से यह ईशोपदेश रुचिकर न हुआ और उन्होंने ऋषि से वाद-विवाद कर शाप पाया। जैसा कि हम पूर्व के प्रसंगों में दिखा चुके हैं, गोस्वामी जी ने अन्यत्र भी यही सिद्धांत माना है कि तात्त्विक तो निर्गुणाद्वैत है, किंतु भक्तों का मनोविश्राम सगुण, साकार मूर्तियों में होता है। यह मत शांकर सिद्धांत के प्रतिकूल नहीं। भगवान् श्री शंकराचार्य भी उपासना का संबंध सगुण ब्रह्म से मानते हैं। जो अपने को ज्ञान के अयोग्य समझकर उपासना के अधिकारी समझें, वे खुशी से सगुण ब्रह्म की उपासना करें। यही गोस्वामी जी ने भी अपने लिये चुना। किंतु तत्त्वनिरूपण में ये भगवान् शंकराचार्य के समान उपनिषत्प्रतिपादित अद्वैत सिद्धांत के ही अनुयायी रहे।"

इस लेख से यह प्रतीत होता है कि चतुर्वेदी जी शांकर अद्वैत-वाद के माया और मिथ्यावाद के अद्वितीय सेवक हैं। अद्वैतवाद का यह सारभूत सिद्धांत है कि जो कुछ देखा जा सकता है, सुना जा सकता है, जिसका मन से अनुमान किया जा सकता है, वह सब मिथ्या है। इस सिद्धांत को सिद्ध करने के लिये आपने अपने लेख ही को प्रमाण बना दिया है। इससे बढ़कर कोई क्या सेवा कर सकता था? पूर्वोक्त "ब्रह्मग्यानरत मुनि बिग्यानी" इत्यादि चौपाइयों से आप सिद्ध करते हैं कि "यह प्रकरण अक्षरशः शांकर सिद्धांत का अनुवाद मात्र है; और गोस्वामी जी ने तत्त्वज्ञान के उपदेश-प्रसंग में यही उपदेश लिखा है। इसे मिथ्यावाद का प्रमाण बनाने के लिये गोस्वामी जी ने इस 'शांकर सिद्धांत के अनुवाद मात्र' कहते ही लिखा है—"बिबिध भाँति मुनि मोहिं समुझावा। निर्गुन मत मम हृदय न आवा"।

लेखक महाशय के अनुसार जो 'ज्ञान के अयोग्य' हैं, वे सगुण ब्रह्म के उपासक होते हैं; और उनके कथन से मतलब यह निकलता है कि गोस्वामी जी भी इन्हीं अयोग्यों की श्रेणी में थे, परंतु उनमें ज्ञान का इतना आभास आ गया था कि वह शांकर सिद्धांत के अनुयायी थे। आपके अनुसार अद्वैत मार्ग ही सब मार्गों में बड़ा है। यदि गोस्वामी जी ने कहीं और किसी मार्ग का उल्लेख किया है तो यह समझना चाहिए कि 'ज्ञान के अधिकारी' न होने के कारण उन्हें यह कष्ट झेलना पड़ा है। हम जैसा पहले लिख आए हैं, चतुर्वेदी जी के विचारों से हमें कोई प्रयोजन नहीं; देखना यह है कि गोस्वामी जी के क्या विचार हैं। स्वयं चतुर्वेदी जी के मत में भी "उत्तरकांड का उत्तर भाग तत्त्वज्ञान का एक और बहुत बड़ा खज़ाना है।" उस पर ध्यान देने से गोस्वामी जी के दार्शनिक विचार और भी स्पष्ट रूप से प्रकट हो जायँगे।

उत्तर कांड के उत्तर भाग में काकभुशुंडि और गरुड़ के संवाद की कथा है। जब युद्ध में इंद्रजीत ने नागास्त्र का प्रयोग किया, तब श्रीरामचंद्र ने उसका निषेध करना उचित न समझा। उस समय नारद मुनि ने गरुड़ जी को इस काम के लिये भेजा। इसके पश्चात् गरुड़ जी को बुद्धि-भ्रम हुआ कि यदि श्रीराम परमेश्वर के अवतार हैं, तो वह इस काम में स्वयं क्यों असमर्थ रहे। इस शंका-समाधान के लिये गरुड़ जी नारद मुनि और ब्रह्मा के पास होते हुए महादेव जी के पास पहुँचे। महादेव जी के उपदेश से वह भुशुंडि जी के पास गए और उनसे रामचरित और अन्य उपदेश सुनने और उस आश्रम की महिमा से उनका सब भ्रम नष्ट हो गया। महादेव जी भुशुंडि जी के आश्रम को बताते हैं:—

तेहि गिरि रुचिर बसै खग सोई। तासु नास कल्पांत न होई॥
मायाकृत गुन दोष अनेका। मोह मनोज आदि अबिबेका॥
रहे ब्यापि समस्त जग माहीं। तेहि गिरि निकट कबहुँ नहिं जाहीं॥

(पृ० ४६४)

यहाँ यह बात विचारने योग्य है कि भुशुंडि-आश्रम के पास माया का आवरण नहीं रहता। अद्वैत मत के अनुसार जहाँ माया का आवरण नहीं है, वहाँ निर्गुण शुद्ध ब्रह्म साक्षात् है। परंतु गोस्वामी जी ने यही दृश्य दिखलाया है कि माया का आवरण न होने पर भी यह आश्रम, और सृष्टि की तरह इंद्रियगोचर है। यह अद्वैत के विरुद्ध है। महादेव जी ने गरुड़ को उपदेश दिया—

बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गए बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग॥

(पृ० ४६६)

अर्थात् मोह हट जाने पर—मोह हट जाना ज्ञान की अवस्था है—राम-चरण में दृढ़ भक्ति होती है। गोस्वामी जी का यही मत था कि ज्ञान भक्ति का हेतु है। आगे यह मत और स्पष्ट हुआ है। गरुड़ जी को रामचरित्र सुनाते समय सीता-हरण के प्रसंग में भुशुंडी जी ने कहा है—

पुनि माया-सीता कर हरना। श्री रघुबीर-बिरह कछु बरना॥

(पृ० ४६८)

यहाँ गोस्वामी जी ने एक 'माया-सीता' शब्द का प्रयोग करके इस कथा की याद दिलाई है—

सुनहु प्रिया ब्रत रुचिर सुसीला। मैं कछु करब ललित नरलीला॥
तुम्ह पावक महँ करहु निवासा। जौं लगि करौं निसाचर-नासा॥
जबहिं रामु सबु कहा बखानी। प्रभुपद धरि हिय अनल समानी॥
निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता। तैसइ सील रूप सुबिनीता॥
लछिमनहू यह मरम न जाना। जो कुछ चरित रचा भगवाना॥

(पृ० ३०६)

और रावण-बध पर जब माया की सीता ने अग्नि में प्रवेश किया—

तब अनल भूसुररूप कर गहि सत्य सिय श्रुतिबिदित जो।
जिमि छीरसागर इंदिरा रामहिं समर्पी आनि सो॥

(पृ० ४२७)

यह भी स्पष्ट कर दिया है कि वास्तव में सीता सत्य हैं, केवल वह सीता जिसे रावण हर ले गया था, माया की थीं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि गोस्वामी जी मायावाद और मिथ्यावाद के अनुगामी नहीं थे। राम-कथा कहने के उपरांत गरुड़ जी के विनय और अनुराग के वचन सुन भुशुंडि जी प्रसन्न हो और 'परम रहस्य' सुनाने लगे और स्वयं मोहित होना विस्तार से कहा। इसी प्रसंग में 'व्यापि रहेउ संसार महुँ माया कटक प्रचंड' इत्यादि जिसका कुछ पहले उल्लेख हो चुका है, कह कर भुशुंडि जी वर्णन करते हैं कि जब जब कल्प कल्पांतर में श्रीराम का अवतार होता है, तब तब वह अयोध्या जा परमेश्वर की बाल-क्रीड़ा का आनंद भोगते हैं। एक बार भुशुंडि जी को

प्राकृत सिसु इव लीला देखि भयेउ मोहि मोह।
कवन चरित्र करत प्रभु चिदानंदसंदोह॥

(पृ० ४७३)

मोह होने का कारण यह था—

ग्यान अखंड एक सीताबर। मायाबस्य जीव सचराचर॥
जौं सब के रह ग्यान एकरस। ईश्वर जीवहिं भेद कहहु कस॥

(पृ० ४७३)

शांकरवाद तो दूर रहा, यह वाक्य तो द्वैतवाद को सिद्ध करता है कि ईश्वर और जीव में भेद है और ज्ञान हो जाने पर भी यह भेद बना ही रहता है; क्योंकि परब्रह्म के समान जीव को 'एकरस' ज्ञान नहीं होता।

अद्वैत मार्ग में ज्ञान हो जाना सिद्धि की पराकाष्ठा है; परंतु गोस्वामी जी के मत में:—

रामचंद्र के भजन बिनु जो चह पद निर्बान।
ग्यानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूछ बिखान॥

(पृ० ४७४)

गोस्वामी जी कहीं यह झलक भी नहीं देते कि भक्ति-मार्ग केवल

ज्ञान उपार्जन का हेतु है, परंतु उसमें स्वतंत्र कोई सिद्धि नहीं है। इसके विरुद्ध उनके मत में भक्ति-मार्ग बिलकुल स्वतंत्र है। इतना ही नहीं, प्रत्युत् ज्ञान-विज्ञान भक्ति उपार्जन के हेतु हैं, भक्ति के अधीन हैं। आरण्य कांड में लक्ष्मण जी को उपदेश करते हुए श्री राम ने बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा है:—

धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना। ग्यान-मोच्छ-प्रद बेद बखाना॥
जा तें बेगि द्रवौं मैं भाई। सो मम भगति भगत-सुखदाई॥
सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ग्यान बिग्याना॥
(पृ० २६६)

इसमें यह शंका हो सकती है कि 'ज्ञान' और 'विज्ञान' से गोस्वामी जी का क्या अभिप्राय था। यह आगे उन्हीं के वाक्यों से साफ़ हो जायगा। लंका कांड में रावण-वध के उपरांत सब देवता इत्यादि राम-दर्शन के लिये उपस्थित हुए। उसी समय दशरथ जी भी आए। वहाँ भी गोस्वामी जी ने यही दिखलाया है कि भक्ति मार्ग सब से उत्कृष्ट है:—

रघुपति प्रथम प्रेम अनुमाना। चितै पितहिं दीन्हेउ दृढ़ ग्याना॥
तातें उमा मोच्छ नहिं पावा। दसरथ भेदभगति मन लावा॥
सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहुँ रामु भगति निज देहीं॥
(पृ० ४२६)

पुर-वासियों को उपदेश करते हुए श्री राम कहते हैं:—

ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहुँ टेका॥
करत कष्ट बहु पावै कोऊ। भगतिहीन मोहि प्रिय नहिं सोऊ॥
(पृ० ४६०)

अर्थात् परमार्थ दृष्टि से ज्ञान सहित जितने साधन हैं, वे यदि 'भगतिहीन' हैं तो व्यर्थ ही हैं; भक्ति मार्ग ही श्रेयस्कर है। ब्रह्मर्षि वशिष्ट श्री राम से कहते हैं;—

तव पद-पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर यह फल सुंदर॥
(पृ० ४६१)

× × × ×

सोइ सर्बग्य तग्य सोइ पंडित। सोइ गुनगृह बिग्यान अखंडित।
दच्छ सकल-लच्छन-जुत सोई। जा कें पद-सरोज-रति होई॥
(पृ० ४६१)

अर्थात् सब साधनों का हेतु भक्ति है। जिसे भक्ति है, उसे सब कुछ प्राप्त है। विज्ञानी से गोस्वामी जी को अद्वैत-कथित मुक्त ज्ञानी, जिसे 'सोऽहमस्मि' का अनुभव हो चुका हो, अभिप्रेत है। गोस्वामी जी के मत से ऐसे विज्ञानी का भी दर्जा भक्त के नीचे है। कुछ आगे श्री पार्वती जी के श्रीमुख का यह वाक्य है:—

नरसहस्र महँ सुनहु पुरारी। कोउ एक होइ धर्म-ब्रत-धारी॥
धर्मसील कोटिक महँ कोई। विषय-बिमुख बिरागरत होई॥
कोटि-बिरक्त-मध्य श्रुति कहई। सम्यक ग्यान सकृत कोउ लहई॥
ग्यानवंत कोटिक महँ कोऊ। जीवनमुक्त सकृत जग सोऊ॥
तिन्ह सहस्र महुँ सब सुखखानी। दुर्लभ ब्रह्मलीन बिग्यानी॥
(पृ० ४६३)

अर्थात् हजारों आदमियों में कोई एक 'धर्म-ब्रत-धारी' होता है। ऐसे करोड़ों 'धर्मसील' में कोई एक 'विरक्त,' करोड़ों विरक्तों में कोई एक ज्ञानी और करोड़ों 'ज्ञानवंत' में कोई एक 'जीवनमुक्त' होता है। ऐसे हज़ारों जीवनमुक्तों में कोई एक 'दुर्लभ ब्रह्म-लीन' पद पाकर 'विज्ञानी' होता है। यहाँ तक अद्वैत कथित ज्ञान विज्ञान की श्रेष्ठता हुई। गोस्वामी जी के मत में यह सब भक्त के नीचे हैं। भगवती का बहुत स्पष्ट और दृढ़ वाक्य है:—

धर्मसील बिरक्त अरु ग्यानी। जीवनमुक्त ब्रह्मपर प्रानी।
सब तें सो दुर्लभ सुरराया। राम-भगति-रत गत-मद-माया॥
(पृ० ४६३)

केवल रामचरितमानस ही नहीं किंतु तुलसीकृत सभी ग्रंथों से यही सिद्ध होता है कि गोस्वामी जी सब काल में, सब मार्गों में, सब के लिये भक्ति मार्ग को उत्कृष्ट और सर्वोत्तम मानते थे।

आगे भुशुंडि जी यों कहते हैं कि श्रीराम ने इन्हें अपना सर्वव्याप्त

और विश्वरूप का दर्शन दिया जिससे भुशुंडि जी ने 'विकल', 'अमित' और 'प्रेमाकुल' होकर 'देहदसा बिसराई' और—

सजल नयन पुलकित कर जोरी । कीन्हेउँ बहु बिधि बिनय बहोरी ॥
(पृ० ४७६)

श्रीरामचंद्र जी ने प्रसन्न होकर इनसे कहा कि वर माँगो । तब भुशुंडि जी ने यह निश्चय करके कि—

भगतिहीन गुन सब सुख कैसे । लवन बिना बहु व्यंजन जैसे ॥
(पृ० ४७६)

'अबिरल भगति' का वर माँगा । यह वर देकर श्रीरामचंद्र जी ने इन्हें और भी उपदेश किया । इस संबंध में गोस्वामी जी के वाक्य बहुत ध्यान देने योग्य हैं; क्योंकि यहाँ उन्होंने 'निज सिद्धांत' कहा है—

निज सिद्धांत सुनावौं तोही । सुनि मन धरु सब तजि भजु मोही ॥
(पृ० ४७७)

× × × ×

सत्य कहौं खग तोहि सुचि सेवक मम प्रानप्रिय ।
अस बिचारि भजु मोहि परिहरि आस भरोस सब ॥
(पृ० ४७८)

प्रभु के वचनामृत सुनने से और उनकी बाललीला देखने से काकभुशुंड जी को ऐसा सुख हुआ—

सोई सुख लवलेस जिन्ह बारक सपनेहु लहेउ ।
तेहि नहिं गनहिं खगेस ब्रह्मसुखहिं सज्जन सुमति ॥
(पृ० ४७८)

यहाँ गोस्वामी जी ने बहुत स्पष्ट वाक्यों में कहा है कि उनके 'निज सिद्धांत' में सब मतों को छोड़कर सगुण रामचंद्र की अनन्य भक्ति अंतिम और परम पुरुषार्थ है और उनकी बाल-लीला देखने का वह सुख है जिसकी अपेक्षा ब्रह्मसुख—अद्वैतवाद का अंतिम सुख—तुच्छ है । इन सब में कहीं इसकी झलक भी नहीं है कि गोस्वामी जी ने अपने को अनधिकारी समझकर ज्ञान मार्ग छोड़ भक्ति मार्ग का ग्रहण किया था; बल्कि उन्होंने स्पष्ट रीति से दिख-

लाया है कि वह भक्ति मार्ग को सब मार्गों से उत्तम और श्रेयस्कर मानते थे; इसलिये हम लोगों के लिये भी यही अभिप्राय निकालना ठीक है कि उन्होंने भक्ति मार्ग का ग्रहण इसी कारण किया था। गोस्वामी जी ने इसी बात को आगे भी विस्तार से प्रस्फुटित किया है। जब गरुड़ जी ने भुशुंडि जी से प्रश्न किया कि आपको काल क्यों नहीं व्यापता और आपके आश्रम में आने ही से मेरा मोह क्यों भाग गया, तब उनको उत्तर देने के प्रसंग में भुशुंडि जी ने कहा है—

जप तप ब्रत मख सम दम नाना। बिरति बिबेक जोग बिग्याना॥
सब कर फल रघु-पति पद प्रेमा। तेहि बिनु काउ न पावै छेमा॥

(पृ० ४८१)

× × × ×

स्वारथ साँच जीव कहुँ एहा। मन क्रम-बचन रामपद नेहा॥
सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा। जो तनु पाइ भजिय रघुबीरा॥

इसी प्रसंग में कलि-काल के वर्णन में गोस्वामी जी ने लिखा है:-

परतिय लंपट कपट सयाने। मोह द्रोह ममता लपटाने॥
तेइ अभेदबादी ग्यानी नर। देखेउँ मैं चरित्र कलिजुग कर॥
आप गए अरु औरनि घालहिं। जो कहुँ सतमारग प्रतिपालहिं॥

(पृ० ४८४)

यह भी नहीं है कि कलि-काल होने से, कालतः, लोक को अद्वैत मार्ग का अनधिकारी समझकर, लोकसंग्रह की बुद्धि से गोस्वामी जी ने भक्ति मार्ग का अनुसरण किया हो; क्योंकि कलियुग ही के प्रसंग में वह कुछ आगे कहते हैं—

श्रुतिसंमत हरि-भक्त-पथ संजुत बिरति बिबेक।
तेहि न चलहिं नर मोह-बस कलपहिं पंथ अनेक॥

(पृ० ४८४)

अर्थात् यह कलिकाल के मोह का प्रभाव है कि वेद अभिमत, विरक्ति और विवेकयुक्त, भक्तिमार्ग का तिरस्कार कर और और मार्गों के अनुगामी बन लोग कल्पना करते हैं; जिन्हें कलि-मोह नहीं

व्यापता, वह ऐसे भक्ति मार्ग ही पर चलते हैं। इतना ही नहीं किंतु
जिस तरह नट के सेवक को उसकी नटबाज़ी की माया नहीं
व्यापती, उसी तरह ईश्वर के भक्त को परमेश्वर-रचित कलियुग का
धर्म नहीं व्यापता:—

कालधर्म नहिं व्यापहिं तेही। रघुपति-चरन-प्रीति-रति जेही॥
नटकृत कपट बिकट खगराया। नटसेवकहिं न व्यापै माया॥
(पृ० ४८६)

गरुड़ से अपनी जीवनी कहने में भुशुंडि जी ने कहा है कि उनके
अनेक योनियों में अनेक जन्म हुए, परंतु उनका ज्ञान बना रहा। जब
अंत में उन्होंने ब्राह्मण के घर में जन्म पाया, तब अपने माता पिता
की मृत्यु के उपरांत वह बन में आकर ईश्वर भजन करने लगे; और
इस पर्यटन में जहाँ जहाँ मुनियों से समागम होता था, उनसे राम-
कथा पूछते थे और उसे सुनकर हर्षित होते थे। परंतु यदि कोई
इन्हें निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान बताता था तो:—

निर्गुन मत नहिं मोहि सुहाई। सगुन ब्रह्मरति उर अधिकाई॥
(पृ० ४९०)

यों ही घूमते घूमते यह वृद्ध लोमश ऋषि के आश्रम पर पहुँचे
और उनसे भी सगुण उपासना का प्रश्न किया। गोस्वामी जी के
दार्शनिक विचार-निरूपण के लिये यह कथा बहुत महत्त्व की है
क्योंकि यहाँ केवल शब्दों ही से नहीं वरन् भाव से भी गोस्वामी
जी ने अपने विचार प्रकट किए हैं। भुशुंडि जी स्वयं ज्ञानी थे।
लोमश मुनि ज्ञानमय थे। मुनि-देव ने इन्हें 'परम अधिकारी' जान
कर ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया। ऐसे उपदेशक मिलने पर भी और
उनके 'बिबिध भाँति' से समझाने पर भी भुशुंडि जी यही कहते हैं
कि 'निर्गुन मत मम हृदय न आवा'। इस पर इन दोनों में परस्पर
खूब शास्त्रार्थ हुआ:—

मुनि पुनि कहि हरि-कथा अनूपा। खंडि सगुनमत निर्गुन रूपा॥
तब मैं निर्गुन मति करि दूरी। सगुन निरूपेऊँ करि हठ भूरी॥
(पृ० ४९१)

इस वादविवाद से निर्गुण मत के उपदेशक को क्रोध हो आया। 'बारंबार सकोप मुनि करै निरूपन ग्यान'; परंतु सगुणमतानुयायी श्रोता को इस पाप-मूलक क्रोध ने नहीं ग्रसा; उसकी विवेक बुद्धि बनी ही रही :—

मैं अपने मन बैठि तब करौं बिबिध अनुमान।
द्वैत बुद्धि बिनु क्रोध किमि द्वैत कि बिनु अग्यान॥
मायाबस परिछिन्न जड़ जीव कि ईस समान॥

(पृ० ४६१)

होते होते ब्रह्मज्ञानी इतने सकोप हुए कि उन्होंने सगुण मतवाले श्रोता को शाप दिया कि तू काक हो जा। परंतु शाप पाने पर भी सगुण भक्त को माया का आभास तक नहीं हुआ, निमेष मात्र के लिये भी मर्यादा उल्लंघन करने की बुद्धि नहीं हुई :—

लीन्ह साप मैं सीस चढ़ाई। नहिं कछु भय न दीनता आई॥
दो०—तुरत भयेउँ मैं काग तब पुनि मुनिपद सिरु नाइ।
सुमिरि राम-रघुबंस-मनि हरषित चलेउँ उड़ाइ॥

(पृ० ४६२)

ऐसे कुसमय पर भी भक्ति के प्रभाव से अखंडित ज्ञान बना रहा:—
उमा जे राम-चरन-रत बिगत-काम-मद-क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

(पृ० ४६२)

परंतु इसमें वास्तव में लोमश मुनि का दोष नहीं था, क्योंकि जब वह माया-ग्रस्त थे, उस समय की उनकी यह बुद्धि थी कि निर्गुण ब्रह्मज्ञान सगुण भक्ति से श्रेष्ठ है :—

सुनु खगेस नहिं कछु रिषि दूसन। उर-प्रेरक रघु-बंस-बिभूषन॥
कृपासिंधु मुनि मति करि भोरी। लीन्ही प्रेम-परीछा मोरी॥

(पृ० ४६२)

और जब उन पर से वह मायाच्छादन हट गया, जब—

मन बच क्रम मोहिं निज जन जाना। मुनि मति पुनि फेरी भगवाना॥

तब—ज्ञान आ जाने पर—

रिषि मम सहनसीलता देखी। राम-चरन-बिस्वास बिसेखी॥
अति बिसमय पुनि पुनि पछिताई। सादर मुनि मोहि लीन्ह बोलाई॥
मम परितोष बिबिध बिधि कीन्हा। हरषित राम-मंत्र मोहि दीन्हा॥
बालकरूप राम कर ध्याना। कहेउ मोहि मुनि कृपानिधाना॥
सुंदर सुखद मोहि अति भावा। जो प्रथमहिं मैं तुम्हहिं सुनावा॥
मुनि मोहि कछुक काल तहँ राखा। राम-चरित-मानस सब भाखा॥
(पृ० ४६२)

यह खूब ध्यान में रखने की बात है कि गोस्वामी जी यहाँ "राम-चरित-मानस" का प्रयोग करके यही सिद्धांत सिद्ध कर देते हैं कि यही उनके तात्त्विक विचार हैं। इसके आगे इस मार्ग की उत्कृष्टता, परंपरा और प्रभाव यों कहते हैं :—

सादर मोहि यह कथा सुनाई। पुनि बोले मुनि गिरा सुहाई॥
रामचरित सर गुप्त सुहावा। संभु-प्रसाद तात मैं पावा॥
तोहि निज भगत राम कर जानी। तातें मैं सब कहेउँ बखानी॥
राम-भगति जिन्ह के उर नाहीं। कबहुँ न तात कहिअ तिन्ह पाहीं॥
मुनि मोहि बिबिध भाँति समुझावा। मैं सप्रेम मुनिपद सिरु नावा॥
निज-कर कमल परसि मम सीसा। हरषित आसिष दीन्ह मुनीसा॥
राम-भगति अबिरल उर तोरे। बसहु सदा प्रसाद जब मोरे॥

दो०—सदा रामप्रिय होहु तुम्ह सुभ-गुन-भवन अमान।
कामरूप इच्छामरन ग्यान-बिराग-निधान॥
जेहि आश्रम तुम्ह बसब पुनि सुमिरन श्रीभगवंत।
ब्यापहि तहँ न अबिद्या जोजन एक प्रजंत॥

काल कर्म गुनदोष सुभाऊ। कछु दुख तुम्हहिं न ब्यापिहि काऊ॥
रामरहस्य ललित बिधि नाना। गुप्त प्रगट इतिहास पुराना॥
बिनु श्रम तुम्ह जानब सब सोऊ। नित नय नेह रामपद होऊ॥
जो इच्छा करिहहु मन माहीं। हरिप्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं॥

सुनि मुनि आसिष सुनु मतिधीरा। ब्रह्मगिरा भइ गगन गँभीरा॥
एवमस्तु तब बच मुनि ग्यानी। यह मम भगत करम मन बानी॥
सुनि नभगिरा हरष मोहि भयेऊ। प्रेम मगन सब संसय गयेऊ॥
करि बिनंती मुनि आयसु पाई। पदसरोज पुनि पुनि सिरु नाई॥
हरष सहित एहि आश्रम आयेउँ। प्रभुप्रसाद दुर्लभ बर पायेउँ॥

× × ×

भगति पच्छ हठ करि रहेउँ दीन्ह महा-रिषि साप।
मुनिदुर्लभ बर पायेउँ देखहु भजनप्रताप॥

जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ज्ञानहेतु श्रम करहीं॥
ते जड़ कामधेनु गृहत्यागी। खोजत आक फिरहिं पय लागी॥
सुनु खगेस हरिभगति बिहाई। जे सुख चाहहिं आन उपाई॥
ते सठ महा सिंधु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहिं जड़ करनी॥

(पृ० ४६३–६४)

यहाँ गोस्वामी जी ने यही दिखलाया है कि ज्ञानी होने पर भी जब 'भोरी मति' हो जाती है, तब वह विमोहित ज्ञानी स्वयं योगेश्वर महादेव के उपदेश को भूल निर्गुण मत का कट्टर पक्षपाती हो जाता है और पक्षपात के वशीभूत हो सत्यमार्ग-वादी संतों के प्रति भी अनर्थ व्यवहार करता है। परंतु ज्ञान निर्मल हो जाने पर अपने निर्गुण मत के आग्रह और उस आग्रह-जनित अनुचित कर्मों को यादकर अति विस्मित होता है और बारंबार पछताता है। निर्मल ज्ञान होने ही पर सगुण ब्रह्म के भक्ति-मार्ग की सत्यता और उत्तमता में विश्वास करके दूसरों को भी उसी मार्ग का उपदेश करता है। सच्ची अनन्य भक्ति हो जाने पर केवल उस भक्त ही को नहीं वरन् उस भक्त के सत्संगियों को भी अविद्या नहीं व्यापती। स्वयं भक्त का तो कहना ही क्या है! उसे न काल व्यापता है, न कर्म के दोष या गुण, न स्वभाव (अर्थात पूर्व संचित कर्म-संस्कार), और न दुःख ही। उसे बिना प्रयास परमेश्वर के गुप्त, प्रकट और ललित रहस्य का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। इसके अतिरिक्त वह मन में भी

जिस बात की इच्छा करता है, वह उसे परमेश्वर के प्रसाद से सहज ही प्राप्त होती है। भक्ति का यह प्रताप है कि महर्षियों के शाप का भी परिणाम दुर्लभ श्रेय होता है। इसके विपरीत जो जान बूझकर भक्ति मार्ग को त्याग केवल ज्ञान को हेतु बना परिश्रम करते हैं, वे उन जड़ों के समान हैं जो कामधेनु सुलभ होते हुए भी दूध पाने की इच्छा से जंगल जंगल मदार का पेड़ फिरते हैं; अथवा उन शठों के समान हैं जो नौका बिना ही महासमुद्र को तैरकर पार करने की इच्छा करते हैं।

इसके आगे गरुड़ जी के प्रश्न पर किः—

कहहिं संत मुनि बेद पुराना। नहिं कछु दुर्लभ ग्यान समाना॥
सोइ मुनि तुम्ह सन कहेउ गोसाईं। नहिं आदरेहु भगति की नाईं॥
ग्यानहिं भगतिहिं अंतर केता। सकल कहौ प्रभु कृपानिकेता॥
(पृ० ४६४)

भुशुंडि जी पहले तो यह कहते हैं कि भक्ति और माया दोनों स्त्री हैं जिनमें भक्ति तो ईश्वर की प्रिया और माया नर्त्तकी की नाईं है। इससे रूपी प्रिया भक्ति के सामने माया संकोचवश अपनी प्रभुता का विकास नहीं कर सकती। इसके आगे ज्ञान मार्ग का विस्तृत निरुपण करने में जो प्रस्तावना है, उसमें शांकर अद्वैत तो बहुत दूर रहा, द्वैतवाद की झलक आती है। वह, यानी ज्ञान मार्ग, ऐसी 'अकथ कहानी' है जो 'समुझत बनै न जाइ बखानी'।

ईश्वर अंश जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥
(पृ० ४६५)

होने पर भी जैसे बहेलिया बुद्धिहीन नीच योनिवाले पशु-पक्षियों को फाँसता है, उसी तरह ज्ञान रूप ब्रह्म के जीव रूप अंश मनुष्य कोः—

सो माया बस भयेउ गोसाईं। बँधेउ कीर मरकट की नाईं॥
(पृ० ४६५)

और इस जड़ माया और चैतन्य ब्रह्म अंश जीव के संबंध मात्र

से 'जड़ चेतनहिं ग्रंथि परि गई।' यदि माया भी, ब्रह्म की तरह, सत्य हो तब भी समझ में आ सकता है कि बराबरी की गुत्थी है; इससे इसका सुलझाना कठिन है। परंतु शांकर अद्वैतवाद के अनुसार यद्यपि सब संसार, सब रूप, सब गुण, सब मायाकृत खेल, मिथ्या हैं, वास्तव में यह सब कुछ हैं ही नहीं, इनका होना भ्रम मात्र है,

'जदपि मृषा छूटत कठिनाई।'

तब तें जीव भयेउ संसारी। छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी॥
श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई॥

और जीव के हृदय में मोह रूपी अंधकार के आधिक्य से यह नहीं देख पड़ता कि यह ग्रंथि कैसे छूटेगी। जब बहुत प्रयत्न करके सात्विक श्रद्धा-रूपी गौ जप, तप, व्रत इत्यादि 'अपार' नियम रूपी घास खाकर तैयार हो, भावरूपी बछड़ा उसे पिन्हावे, निवृत्ति रूपी रस्सी से उसके पैर बाँधे जायँ और विश्वास रूपी पात्र एकत्र हो जायँ, तब भी उसके दुहने के लिये मन रूपी एक ऐसा अहीर होना चाहिए जो निर्मल हो और अपने अधीन हो। इतनी कठिनाई झेलने पर भी जब इस 'परम धर्म' रूपी दूध को अकाम रूपी अग्नि पर औटावे और उसे संतोष और क्षमा रूपी हवा से ठंढा करके धैर्य्य-रूपी जामन देकर दही जमावे और ऐसे ही ऐसे कठिन प्रयत्नों की सब सामग्री जमा करके मक्खन निकाले, वैसे ही कठिनाइयों से घृत बनावे और वैसे ही कठिनाइयों को झेलता हुआ दीया, दीयट, बत्ती ठीक करके सोऽहमस्मि रूपी 'दीप-शिखा' प्रज्वलित करे, तब ज्ञान मार्ग द्वारा:—

'मोह आदि तम मिटै अपारा॥'

तब सोइ बुद्धि पाइ उँजिआरा। उरगृह बैठि ग्रंथि निरुआरा॥
(पृ० ४६६)

इतनी सब हो जाने पर भी विघ्नों का अंत नहीं होता। तब माया रिद्धि-सिद्धि को उस ज्ञानदीप के समीप भेज 'अंचल बात बुझावहि दीपा'। यदि वह इससे भी बच गया, तो सब इंद्रियों के

अधिष्ठाता देवता इंद्रिय द्वारों के किवाड़ खोल देते हैं जिससे 'बिषय बयारी...उरगृह जाई। तबहिं दीप बिग्यान बुझाई।'
ग्रंथि न छूटि मिटा सो प्रकासा। बुद्धि बिकल भइ बिषय बतासा॥

दो०—तब फिरि जीव बिबिध बिधि पावै संसृति क्लेस।
हरिमाया अतिदुस्तर तरि न जाइ बिहँगेस॥

(पृ० ४९६)

इस तरह ज्ञानमार्ग हर तरह से कठिन है। परंतु—
रामभजत सोइ मुक्ति गोसाईं। अनइच्छित आवै बरिआईं॥

× × × ×

सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम-पद-पंकज अस सिद्धांत बिचारि॥

× × × ×

रामभगति चिंतामनि सुंदर। बसै गरुड़ जाके उर-अंतर॥
परमप्रकास रूप दिन राती। नहिं कछु चहिअ दिया घृत बाती॥
मोह दरिद्र निकट नहिं आवा। लोभ बात नहिं ताहि बुझावा॥
अचल अबिद्या तम मिटि जाई। हारहिं सकल-सलभ समुदाई॥

(पृ० ४९७)

× × × ×

मर्मी सज्जन सुमति कुदारी। ग्यान बिराग नयन उरगारी॥
भाव सहित खोजै जो प्रानी। पाव भगतिमनि सब सुखखानी॥

× × × ×

दो०—ब्रह्म पयोनिधि मंदर ग्यान संत सुर आहिं।
कथा सुधा मथि काढ़े भगति मधुरता जाहिं॥
बिरति चर्म असि ग्यान मद लोभ मोह रिपु मारि।
जय पाइअ सो हरिभगति देखु खगेस बिचारि॥

(पृ० ४९८)

यहाँ गोस्वामी जी के मत में यदि ज्ञान दीपक के समान है तो उससे बहुत बढ़ी चढ़ी भक्ति 'सुंदर' 'परम प्रकाश' 'चिंतामणि' के समान है। इसके कुछ आगे गोस्वामी जी फिर भी

बिमल ग्यानजल जब सो नहाई। तब रह रामभगति उर छाई॥

(पृ० ५००)

कहकर अपना सिद्धांत पुष्ट करते हैं कि भक्ति ज्ञान का हेतु नहीं है किंतु ज्ञान ही भक्ति का हेतु है। जब मनुष्य को ज्ञान हो जाता है तब उसके हृदय में भक्ति अचल होती है। कथा का अध्याहार करते हुए भुशुंडि जी कहते हैं:—

महिमा निगम नेति करि गाई। अतुलित बल प्रताप प्रभुताई॥
सिव-अज-पूज्य-चरन रघुराई। मो पर कृपा परम मृदुलाई॥
अस सुभाव कहुँ सुनौं न देखौं। केहि खगेस रघुपति सम लेखौं॥
साधक सिद्ध बिमुक्त उदासी। कबि कोबिद कृतग्य संन्यासी॥
जोगी सूर सुतापस ग्यानी। धर्मनिरत पंडित बिग्यानी॥
तरहिं न बिनु सेये मम स्वामी। राम नमामि नमामि नमामी॥
सरन गए मो से अघरासी। होहिं सुद्ध नमामि अबिनासी॥

जासु नाम भवभेषज हरन ताप-त्रय-सूल।
सो कृपालु मोहि तोहि पर सदा रहहु अनुकूल॥

(पृ० ५०१)

इतना कहने पर भी मानो गोस्वामी जी को तृप्ति न हुई। फिर भी महादेव जी की कथा के उपसंहार में महादेव जी के श्रीमुख से वह कहलाते हैं:—

तीर्थाटन साधन समुदाई। जोग बिराग ग्यान निपुनाई॥
नाना कर्म धर्म ब्रत दाना। संजम दम जप तप मख नाना॥
भूतदया द्विज-गुरु-सेवकाई। बिद्या बिनय बिबेक बड़ाई॥
जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरिभगति भवानी॥

(पृ० ५०२)

इतने से भी विदित हो जाता है कि "श्री गोस्वामीजी श्रीशंकराचार्य के अद्वैतवाद के ही अनुगामी हैं" कहना वास्तव में सत्य नहीं है। गोस्वामी जी के लेखों से यह तो स्पष्ट ही है कि वह शांकर अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि अद्वैत के भेदों और द्वैत मतों से पूरा परिचय रखते थे। परंतु मेरे ऐसे छोटी बुद्धिवाले के लिये यह सिद्ध

करने का साहस करना बहुत कठिन है कि गोस्वामी जी किस मत के अनुयायी थे। कदाचित् इतना कहने में कुछ अनुचित भी न होगा कि गोस्वामी जी ने किसी एक मत के अनुयायी हो अपने ज्ञान और कर्म को संकीर्ण करना उचित नहीं समझा था। उनके मत में परमेश्वर अनंत और उसकी कथा भी अनंत है। उनके मत में स्वयं भगवान् महादेव भी परमेश्वर की सब कथा जानने और कहने में असमर्थ हैं, फिर वह मनुष्यों को क्यों समर्थ मानने लगे थे। उनके मत में परमेश्वर सर्वशक्तिमान्, सर्वगुणनिधान और निर्गुण भी है, अनिर्देश्य और आदेश्य, अव्यक्त और व्यक्त, सर्वव्याप्त और एकदेशीय, अचिंत्य और चिंत्य सभी कुछ है; उसके गुण, प्रभाव, कृपा इत्यादि सब अलौकिक हैं। उनके मत में उसकी माया जानने में वेद और देवता भी अशक्त हैं, तब पुराणों, ग्रंथों और मनुष्यों की गिनती ही क्या है। वह यदि स्वयं कृपा करे—और गोस्वामी जी के मत अनुसार परमेश्वर परम दयालु, परम कृपालु है—तभी मनुष्य को उसका थोड़ा बहुत ज्ञान हो सकता है। उसके कृपापात्र होने के लिये एक मात्र मार्ग है—उसकी अनन्य भक्ति। इसी लिये

सोइ सर्वग्य सोई गुनग्याता। सोइ महिमंडित पंडित दाता॥
धर्म परायन सोइ कुलत्राता। रामचरन जा कर मन राता॥
(पृ० ५०२)

× × × ×

मो सम दीन न दीनहित तुम्ह समान रघुबीर।
अस बिचारि रघु-बंस-मनि हरहु बिषम-भव-भीर॥
कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिअ लागहु मोहि राम॥
(पृ० ५०४)

हरिः ॐ तत्सत्।